अयोध्यातीर्थप्रशंसा



डॉ. उमाकान्त चतुर्वेदी

ध्यातीर्थप्रशंसा प्रकाशित
ण का अप्रकाशित अंश है।
लेखों के आधार पर इस
ा सम्पादन किया है। यह ग्रन्थ
ायों में विभक्त है। **प्रथम**
लगभग 40 पृष्ठों की भूमिका
सम्पादन की समस्यायें,
ं अन्य वैयाकरणों के अनुसार
समीक्षा तथा भाषा के
ा की युक्तियों को प्रदर्शित
ा है। **द्वितीय अध्याय** में
ार हस्तलेखों के पाठान्तर एवं
द सहित सम्पादित है। तृतीय
ें अयोध्यातीर्थप्रशंसा ग्रंथ में
र्थों का वाल्मीकिरामायण तथा
ायण ग्रन्थों के आधार पर
एवं समन्वयन किया गया है।
नकारी ग्रन्थ की प्रावेशिकी से
कती है।

– उमकान्त चतुर्वेदी

श्री:

श्री मु०म०वे०वे० महाविद्यालय, अस्सी, वाराणसी, के पुस्तकालय को सादर समर्पित

[signature]
30/5/10

अयोध्यातीर्थप्रशंसा



हंसा प्रकाशन, जयपुर

अयोध्यातीर्थप्रशंसा

लेखकःसंपादकश्च

डॉ. उमाकान्तचतुर्वेदी

आचार्यः, एम.ए.,पी-एच.डी.

लब्धानेकस्वर्णपदकः



हंसा प्रकाशन, जयपुर

ISBN : 978-81-88257-67-6

प्रकाशक : हंसा प्रकाशन
57, नाटाणी भवन, मिश्रराजाजी का रास्ता,
चांदपोल बाजार, जयपुर-302 001

संस्करण : प्रथम 2008

मूल्य : 200 रुपये मात्र

टाईप सैटिंग : विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स, जयपुर

समर्पणम्

साक्षाद्देवस्वरूपाभ्यां पितृभ्यां पूर्णतुष्टये।
लाखामुनीन्द्रदेवाभ्यां ग्रन्थोऽयमर्प्यते मुदा।।
इदं श्राद्धमियं सेवा इयमेव समर्चना।
तुष्यतां पितरौ स्वर्गे देवैः सह सगर्वितौ।।

श्रीहरिःशरणम्।।



प्रावेशिकी

विष्णोर्मायाद्वितीया जगदिदमनिशं जायते यत्प्रभावाद्
ब्रह्मेशाद्याश्च देवाः चरणसुखलवं प्राप्तुकामाश्च यस्याः।
लोकानां क्लेशपुञ्जान् शमयितुमथवा धर्मसंस्थापनायै
जाता सीताभिधाना सततमवतु मां जानकी सा परेशा।।

कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्था पराम्बा की इच्छा ही सर्वोपरि है। मनुष्य अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर जो सोचता है, जैसे सोचता है, वैसा कुछ भी नहीं कर पाता। हाँ, कार्य में लगे रहने वाले पुरुष के समक्ष प्रारब्धवश और अघटनघटना घटीयसी माँ की अहैतुकी कृपा के परिणामस्वरूप जो कुछ हो जाता है उसे ही मनुष्य अपना पुरुषार्थ मान लेता है। ऐसा इसलिये कह रहा हूँ कि मैं, पुराणप्रकाशन विभाग, रामनगर, वाराणसी, में शोधसहायक के रूप में कार्यरत था। उसी समय अयोध्या में बाबरी मस्जिद के टूटने की घटना घटी। और पुराणप्रकाशन विभाग के तत्कालिक संरक्षक, पूर्व-काशिनरेश महामहिम डॉ. विभूतिनारायणसिंह जी के आदेशानुसार मुझे रामायण-महाभारत तथा पुराण आदि ग्रन्थों में अयोध्या और सरयू विषयक अध्ययन में लगना पड़ा। इसी क्रम में नरसिंहपुराण के हस्तलेख में सैंतालीसवां अध्याय, जो कहीं से भी प्रकाशित नहीं था, प्राप्त हुआ। जिसका मैंने चार हस्तलेखों के आधार पर सम्पादन किया है। वस्तुतः यह ग्रन्थ 1991 में ही लिखा गया और पुराणम्, संस्कृतखण्ड 1992 वर्षीय अङ्क में आठ अन्य लेखों के साथ प्रकाशित भी हुआ, किन्तु आज आपके कर-कमलों में यह **अयोध्यातीर्थप्रशंसा** लघुकाय ग्रन्थ के रूप में शोभायमान है। इसे प्रभु की इच्छा ही कह सकते हैं—**बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा।**

अयोध्यातीर्थप्रशंसा के सम्पादन में मैंने गागर में सागर भरने का प्रयास किया है। किन्तु मैं कितना सफल हो पाया हूँ इसका मूल्याङ्कन नीरक्षीरविवेकी सुधीजन ही करेंगे। अध्ययन की दृष्टि से इसे तीन वर्गों में विभाजित किया गया है-(1) सम्पादन की समस्यायें, (2) भाषा की वैज्ञानिकता, तथा (3) अयोध्या के तीर्थों की भौगोलिक स्थिति।

सम्पादन की समस्यायें

नरसिंहपुराणान्तर्गत अयोध्यातीर्थप्रशंसा नामक सैंतालीसवां अध्याय अभी तक अप्रकाशित रहा है। इस अध्याय के तीर्थों से सम्बद्ध पद्यों को श्रीमित्रमिश्र ने वीरमित्रोदय

(धर्मशास्त्रीय-ग्रन्थ) के तीर्थप्रकाश खण्ड में उद्धृत किया है तथा **'इति नरसिंहपुराणे'** ऐसा निर्देश भी किया है। परन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् डॉ. हंसबाकर महोदय ने अपने **अयोध्यामाहात्म्य** (अंग्रेजी भाषा में, लगभग छः सौ पृष्ठों में, लिखित अयोध्या संबंधी साङ्गोपाङ्ग ग्रन्थ) में लिखा है कि डॉ. हाजरा महोदय (पाश्चात्त्य विद्वान्) के अनुसार नरसिंहपुराण में यह अयोध्यातीर्थप्रशंसा नामक अध्याय नहीं है। अन्य भारतीय विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में अपनी लेखनी नहीं चलाई है। इसलिये अयोध्यातीर्थप्रशंसा संबंधी अप्रकाशित इस अध्याय को मौलिक चिन्तन एवं सम्पादन की समस्याओं के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत करने की कोशिश की है। मैंने अयोध्यातीर्थप्रशंसा के सम्पादन में चार हस्तलेखों का उपयोग किया है, जिनमें सरस्वतीभण्डार, रामनगरदुर्ग, वाराणसी से मुझे दो हस्तलेख प्राप्त हुए। तीसरा हस्तलेख **इण्डियाऑफिसपुस्तकालय**, लन्दन का है, जिसका उपयोग डॉ. हंसबाकर ने अपने **अयोध्यामाहात्म्य** में किया है। चतुर्थ हस्तलेख महामहोपाध्याय श्रीमित्रमिश्र विरचित वीरमित्रोदय का दसवां खण्ड तीर्थप्रकाश है। इन चारों हस्तलेखों का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के **'कोशानां विवेचनम्'** शीर्षक में देखें। वहीं इन हस्तलेखों का पूर्ण परिचय दिया गया है। किसी भी ग्रन्थ के सम्पादन या उस पर समीक्षण के पूर्व सम्पादक को उस ग्रन्थ की मौलिकता या उसके सम्प्रदाय को समझना आवश्यक होता है। यदि सम्प्रदाय तथा जिस संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में ग्रन्थ लिखा गया है उस दृष्टि से विचार न करते हुए केवल प्रतिभा के बल पर व्याख्या करते हैं तो वहाँ अर्थ का अनर्थ हो सकता है। इसीलिये भारतीय विद्याओं को समझने के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। इसी सन्दर्भ में यह निवेदन करना चाहता हूँ कि डॉ. हंसबाकर ने जो अयोध्यामहात्म्य का सम्पादन किया है, उसमें अनेक भ्रान्तियां हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति एवं भारतीय विद्याओं के ग्रन्थ के सम्पादन और उस पर टिप्पणी के पूर्व यहाँ की संस्कृति में गलना पचना होगा तभी यहाँ की आध्यात्मिक परम्परा, संस्कृति, वैज्ञानिकता और ग्रन्थों के उद्देश्य को सही अर्थ में समझा जा सकता है। मैंने अपने ग्रन्थ के सम्पादन में इसका पूर्णरूपेण ध्यान रखा है। वस्तुतः **अयोध्यातीर्थप्रशंसा**, जो कुल 46 श्लोकों का लघु ग्रन्थ है, उसके सम्पादन में अयोध्यास्थ तीर्थों के सम्बन्ध में इतना विस्तृत विवेचन करने का कोई औचित्य नहीं बनता, फिर भी कुछ तथाकथित लोगों द्वारा प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित अयोध्या की अन्यथा व्याख्या कर त्रेतायुगीन अयोध्या को आज की अयोध्या से भिन्न बतलाने का अनुचित प्रयास किया जा रहा है। उन लोगों से समाज को दिग्भ्रमित नहीं होने के लिए मेरा यह प्रयास है। इस लघु ग्रन्थ के लेखन में रामकथा से सम्बद्ध प्रायः सभी संस्कृत ग्रन्थों का मैंने अवलोकन किया और यथामति यथार्थ प्रस्तुत करने की सत्यतापूर्ण कोशिश की है।

भाषा की वैज्ञानिकता

संस्कृतभाषा विश्व की सम्पूर्ण भाषाओं में सबसे अधिक व्यवस्थित, समृद्ध तथा सरल है। परन्तु दुःख की बात है कि भारतवर्ष में भी जितनी अंन्य भाषायें, विशेषकर

अंग्रेजी, जिसका न कोई निश्चित रूप है और न कोई निश्चित व्याकरण ही, पनपी और विकसित हुयी उतनी संस्कृत नहीं। यह कुछ लोगों का प्रशंसाभाजन ही बनकर रह गयी। इसका मुख्य कारण है–सरल होते हुए भी दुरूह बनाकर प्रयोग करना। रामायण, महाभारत तथा महाभाष्य आदि महनीय ग्रन्थों की भाषा जैसी सरल और प्रसादगुण सम्पन्न है, यदि वही धारा प्रवहमान रहती तो अवश्य ही हमारी संस्कृतभाषा विश्व के हृदय का हार बनी होती, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं। मैंने इस ग्रन्थ को सार्वजनीन करने के उद्देश्य से अत्यन्त सरल रूप देने की कोशिश की है। इस अभियान के अन्तर्गत मैंने न केवल पाणिनीय व्याकरण, अपितु कातन्त्र, सारस्वत, मुग्धबोध आदि व्याकरण ग्रन्थों के आधार का विवेचन किया है तथा इस ग्रन्थ के सम्पादन में पदे–पदे सहारा भी लिया है। अनुस्वारविचार, पादान्त में अनुस्वार, व्यञ्जनद्वित्व, सन्धि, परसवर्ण, हलन्त से परे स्वर रहने पर, अनुस्वार से परे स्वर रहने पर पञ्चमाक्षर, समास में सन्धि, तथा श्लोकों के सन्धिस्थलों में सन्धि के प्रयोगाप्रयोग का विचार किया गया है। इसी के साथ यति की समस्यायें भी उठायी गयी हैं। दो पादों के बीच, पूर्वार्धोत्तर में तथा श्लोकान्त में होने वाली यति एक रूप ही है या भिन्न–भिन्न, इन सभी समस्याओं को हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में सयुक्तिक, किन्तु परम्परा से हटकर विचार किया है। मेरा उद्देश्य संस्कृतभाषा को अत्यन्त सरल किन्तु शुद्ध रूप में प्रस्तुत करना है। किसी भी व्याकरण ग्रन्थ में समास की नित्यता तथा वाक्य में सन्धि की अनिवार्यता नहीं बतलायी गयी है। साथ ही कृदन्तीय क्रिया के प्रयोग के बाद गणीय क्रिया का प्रयोग आवश्यक नहीं है। अतः असमस्त, असन्धित एवं कृदन्तीय क्रियाओं का प्रयोग कर छोटे–छोटे वाक्यों का प्रयोग होना चाहिये, जिससे सुगमतापूर्वक अर्थबोध हो सके। समस्तपदों और सन्धितपदों में संशय अधिक होता है।

अयोध्या के तीर्थों की भौगोलिक स्थिति

अयोध्यातीर्थप्रशंसा ग्रन्थ के सम्पादन तथा इसके सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षण का मुख्य उद्देश्य है अयोध्यास्थ तीर्थों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करना। उक्त ग्रन्थ में चौदह तीर्थों का संक्षिप्त उल्लेख है जिनका मैंने अयोध्या–सरयू तथा राम से सम्बद्ध प्रायः सभी ग्रन्थों, विशेषकर रामायण के आधार पर समन्वयात्मक विश्लेषण किया है। इस क्रम में प्रायः सभी रामायण ग्रन्थों, महाभारत तथा पुराणों, कुछ अप्रकाशित हस्तलेख जैसे, सत्योपाख्यानम् आदि का उपयोग किया है। इन सभी विषयों का विचार प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृतभाषा के माध्यम से किया गया है किन्तु भाषा इतनी सरल और सर्वजनसंवेद्य है कि असंस्कृतज्ञ भी आसानी से मेरे विचारों को समझ सकता है। पाठकों की सुविधा हेतु मैंने **अयोध्यातीर्थप्रशंसा** का अनुवाद भी साथ में रखा है।

पाठक बन्धुओं से निवेदन है कि इस ग्रन्थ को मनोयोगपूर्वक पढ़े तथा जहाँ भी उन्हें कुछ कहना हो, सुझाव देना हो, या त्रुटि दीख रही हो, मुझे सूचित करें। मैं उन सभी तथ्यों पर विचार के लिए तैयार हूँ। क्योंकि कोई भी विचार अन्तिम नहीं होता, उसमें संशोधन और परिमार्जन होते रहते हैं और होने भी चाहिए।

इस ग्रन्थ के लेखन का आधार है पुराणप्रकाशनविभाग, रामनगर, वाराणसी और सूत्रधार हैं परमादरणीय श्रीमान् चन्द्रधरनारायणसिंहजी, पूर्वकाशिनरेश के अनुजन्मा, जिनकी चतुरस्रप्रतिभा ने वरवश ही मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने शिष्य की तरह अनुशासित और निर्देशित कर मुझसे यह कार्य कराया। वस्तुतः मुझमें इतना गम्भीर चिन्तन करने की क्षमता नहीं थी, जो मैं इसे लिख पाता। इसे ईश्वर की कृपा ही कहेंगे–**'करै करावै सोई'**। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में मेरे सुहृद्वर डॉ. विजयपालशास्त्री, रीडर, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, जयपुरपरिसर का उत्साहवर्धन ही पाथेय बना। उन्हीं के माध्यम से मेरा हंसा प्रकाशन से परिचय हुआ। हंसा प्रकाशन के अध्यक्ष श्रीमान् नाटाणी जी परम सज्जन व्यक्ति हैं। उन्होंने निश्छल मन से मेरा स्वागत किया और मेरी कृतियों को सहृदयतापूर्वक प्रकाशित करने की जिम्मेदारी निभाई। इससे वे मेरे शतशः साधुवाद के सत्पात्र हैं। अन्त में, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के ही श्रीचरणों में समर्पित है यह अयोध्यातीर्थप्रशंसा–त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुम्यमेव समर्पये।

विजयादशमी —— उमाकान्तचतुर्वेदी
वि.सं. 2065

PREFATORY NOTE OF THE AYODHYĀ TİRTH PRAŚAMSĀ

Ayodhya-tirtha-prasamsa is an unpublished chapter of the published Narasimha-purāṇa. It is found in several MSS. of the Narasimha-purana. The author Dr. Umakant Chaturvedi has edited it on the basis of four manuscripts. In preparing the Critical Apparatus he suggests certain modifications and improvements over the critical editions of Ramayana and Māhabhārata. We will invite comments of scholars regarding them. The author has highlighted certain textual problems as well. While doing so he has raised certain questions regarding Sanskrit usage and grammar. Some of the important points raised are:

(i) In place of terminal *'m'* Manuscripts mostly use *anusvāra*. How far a critical editor is entitled to correct it to conform with Paninian grammar ?

(ii) The author has argued that the above usage of *anusvāra* is sanctioned by the Kātantra and the Sārasvatacandrikā system of grammar. Hence such usage must be respected and considered to be grammatically correct.

(iii) The same is partially true about the use of *anusvāra* in place of *parasavarna* within a word. Hence such *anusvāras* should also be kept intact in the critical editions, provided they are supported by the manuscript evidence, which apparently seems to be the case.

Generally it is thought that the above usage in the manuscripts were due to ignorance of scribes. The author has argued against it. Sometimes such usages are considered to be mere scribal devices which was permissible because of its simplicity. The author has argued that even on this score such usages should be accepted in modern writings. Should the twentieth and the twenty first century, parading on its own liberality and mocking at the conservativeness of the old Pandits, be so niggardly as to censor even those usages which even the orthodox old Pandits had been licencing all through several centuries.

(iv) The author has classified the Sanskrit language into two styles—Popular Sanskrit and Brahmanic Sanskrit. To show the antiquity of this classification he has quoted Valmiki's Ramayana. He has further argued that the Brahmanic style might well be used in editing Vedic and classical works. But, at least, in editing Purāna and Epics the popular Sanskrit ought to be retained. He has conjectured that use of *anusvāras* at the end of a sentence and in lieu of *parasavarna* might have been a part of the popular style of Sanskrit. He goes on to say that probably that style was continued in Buddhist Sanskrit. It was the later reaction against Buddhism which made Brahmanic scholars discard the 'Popular Sanskrit' altogether.

We may point out that this brings into question the very concept of 'hybrid Sanskrit'. What is the 'hybrid' element in hybrid Sanskrit? Is it true that there is nothing 'hybrid' in it, and that it is just a later development of the popular style of Sanskrit prevalent in ancient times? The question invites a new look.

(v) Grammar provides for reduplication of consonants in certain cases optionally. Many manuscripts exhibit this tendency of reduplication. No editor of any critical edition has considered this matter while deciding his text. Generally such reduplication is completely ignored and unduplicated text is adopted blindly. The author suggests that it should also be a part of critical editing and the text should be decided accordingly. Probably some regional considerations might be relevant. In the works of the authors from Eastern India the reduplicated form might be more justifiable and of the Western authors the un-reduplicated form.

(vi) The author has questioned the correctness of *sandhi* where two letters are seperated by a caesura *(yati)* in a verse.

(vii) He has further argued that *sandhi* is totally unjustified between the last letter of a *pāda* of a *śloka* and the first letter of the next *pada* of the same *śloka.*

(viii) The author has raised the question that the last letters of what *pādas* of a *śloka* might constitute *avasana* (terminus)

but not the others. This is important for deciding whether *anusvāra* is to be used there or not. There can be three alternatives, namely: (a) At the end of all the *pādas anusvāra* should be used; (b) at the end of the final *pāda* of a śloka *m* should be used while at the end of all the other *pādas auusvāra* should be used; (c) at the end of second and fourth *pādas* m- should be used, while at the end of first and third *pādas anusvāra* should be used.

The manuscripts seem to opt for the first alternative and it is supported by the Kātantra and Sārasvata systems. The second alternative seems to be quite logical from the Pāninian point of view. Now-a-days the third alternative is followed almost universally. Unfortunately this apparently seems most irrational. It is neither fish nor fowl. The question needs urgent consideration of the scholars.

(ix) The author says that Sanskrit grammar as taught by Pānini, Kātyāyana and Patanjali nowhere makes *sandhi* obligatory in a compound. In fact there are positive indications in the Astādhyāyi that *asamhitā* is quite permissible in compounds.

(x) In critical editions of Rāmāyana and Mahābhārata editors have accepted hiatus. Generally these concern two vowels. The author highlights the cases of *non-sandhi* between two consonants, a consonant and a vowel, and even an *anusvara* before a vowel. He has even adopted the form 'तस्यां पुर्यां अनेकानि' as the correct text and has argued for its correctness.

(xi) The author points out that by manipulating the *anuvitti* and *yogavibhāga* of the Pāninian sutras differently, the use of *anusvāra* for the terminal *m* and *pancamāksara* can be accomodated in the Paninian system. According to the Paninian scholars such devices are an essential part of the school of Pānini.

(xii)Yet another point rasised by the author is typographical. In the old Mss. all the *pādas* were written under one headline without a break. In the books printed in Devanagari generally the *pādas* are split. But in the case of *sandhi* two or even more

pādas are written under the same headline. Thus, again, a 'neither-here-nor there' situation is created. The Roman editions of Sanskrit works, in the case of *sandhis,* print the *pādas* separately splitting the vowels and consonants, e.g. *'nady uvaca', 'rāmam api'*. The author points out that *'rāmam api'* and *'ramamapi'* are phonetically and metrically different and so, the splitting is not permitted. To avid all these anomalies he suggests to split different *padas* and to indicate the migration, as a result of *Sandhi,* of any letter, to the previous or subsequent *padas* by putting a single inverted comma (clock-wise or anticlock-wise, respectively) at the beginning or at the end of any *pada* involving *sandhi.*

Ayodhyatlrthaprasamsa

1. The text Ayodhyatirthaprasamsa [ATP.] chiefly deals with the *tlrthas* and not with the temples.

2. There are cases where the meaning does not seem clear and the text is uncertain.

3. Whether the text is independent or not has been discussed briefly and the original source (which might have a different '*sroty*' and vak*oty* has been inferred.

4. The date of the composition of the text has been considered. The author Dr. U. K. Chaturvedi has drawn attention to its antiquity without determining the date. Though the text in an interpolation in the Narasirnha Purana, yet the source of the text may be older than the Narasimha-p.

5. The author Dr. Chaturvedi has accepted गोप्तार (and not गोप्रतार) as the correct and earlier reading. The original source might have described the Gharghara Sarayu confluence near Gopratara and might have designated Gopratāra by the epithet Svargadvara as well. The author of ATP seems to have misunderstood his source and might have split the description of Svargadvara from its original context of Gopratara and read those *slokas* in the description of Svargadvara, which is a separate *ghat* away from Gopratara. The geography implied in the original source could have been different, from that implied in the ATP.

6. The author has surmised that verses were not numbered in the original text. On account of the absence of numbers there arose disputes about the division of verses not only of this text but also of the Puranas and similar other works. The author has also conjectured that the half-verse *(slokardha)* has been regarded as the unit in later period. On account of all these difficulties the numbering of the verses has been done by the author in accordance with the meaning as determined by him.

7. It is further inferred that though an anustubh-verse may have been regarded as possessing four feet *(padas)* in the time of Valmiki, yet in the composition of ATP. the half-verse has been taken as a unit. The author has construed the verses according to his own will.

Gopratara and Svargadvara in Ayodhya

This article is in fact is the begining of a series of studies of *tirthas* of Ayodhya. The findings of the author are as under:

(1) Gopratara, one of the oldest *tirthas* of Ayodhya, finds mention in a large number of works, the exception being the B. P. recension of Ayodhyamahatmya. Dr. Baker writes that it is not mentioned in the Bhusundi ramayana, which is wrong.

(2) The root of the confusion, since ancient time, between the same- Svargadvara and Gopratara lies in the conception of the Valmikian text.

(3) Mention of the confluence of Sarayu and Gharghara at Svargadvara in Candradeva's Copper plate and Tirthakalpa has been a riddle to the scholars. Dr. Baker has overlooked that the same is present in the Ayodhyatirtha-prasamsa [ATP.]. It is quite likely that the source which ATP. has drawn upon had the description of confluence at Gopratara, and in the same context the word Svargadvara was used as a synonym for Gopratara. The author of ATP. keeping the modern geography and nomenclature in mind, has wrongly split the context into two different contexts--modern Svargadvara and Gopratara. Thus the confluence, cut off from the original context; of Gopratara, has been described along with Svargadvara This misstatement arising out of confusion was carried over by Candradeva's Copper plate and Tirthakalpa It suggests that ATP pre dates the other two and that it was a popular work.

(4) Guptahari is situated just to the south of Gopratara. In Satyopakhyana (II Ch. 27) [SP.] Svargadvara and Guptahari have been mentioned. It is possible that Svargadvara denotes Gopratara and not the modern Svargadvara, though elsewhere in Satyopakhyana modern Svargadvara is denoted by the epithet .Svargadvara.

(5) *SP.,* like ATP., clearly seems to imply modern Svargadvara by the epithet Svargadvara but in the original source of SP. the meaning might have been Gopratara,

Because of this confusion the ***parikrama*** begins from Svargadvara in SP. but probably in the original source it began from Gopratara which is more logical even according to SP. Even at other places SP. seems to have misunderstood the meaning of its source book.

(6) Dr. Baker mentions Candradeva's Copper plate as the oldest source mentioning Svargadvara. It is obviously wrong. It is really surprising how he has, using the critical edition of Ramayana, missed the clear mention of Svargadvara in Ramayana. Other commentators also have missed the point, but that is understandable because of variant texts.

(7) Some scholars have taken the Valmikian text to mean that Sarayu flowed westward at Gopratara which is contrary to the present geography. The author has discussed the point and dispelled the doubt.

(8) Different positions of Gharghara *Sangama* at different **times have been noted.**

The Canal Tilottama and the river Tilodaki : A historical and geographical study

The history of Ayodhya through the ages lies hidden in history of Tilottama-Tilodaki Canal (rivulet) .and hence the title of the article. According to the pain-staking analysis of the author following stages of development have come out :

(1) The original stage : Dasaratha's Ayodhya:— The course of Sarayu was more or less the same as at present. It entered Ayodhya at Gopratara and left it after Svargadvara. Svargadvara,

apart from Gopratara was a *tirtha* at Sarayu. The Sarayu-Gharghara confluence was probably at Ghrtaci tirtha.

(2) **The Tilottama Canal stage : Rama's Ayodhya:** —After his coronation Rama established an Asoka-vanika at Ayodhya on the model of Ravana's Asoka-vanika. Maniparvata was a part of it and the canal Tilottama from the river Sarayu was built to pass through Asoka-vanika and join the river again. The description of Asoka-vanika found in Ayodhya-mahatmya has been taken verbatim from Ramayana—a fact missed by Dr. Baker. The author has also discussed the presence of hills around Ayodhya in Valmiki's time. AM. of Skandapurana describes this stage though inflated in the later times

(3) **Upa-Sarayu stage:**—Later on Gopratara was also designated by the name Svargadvara. The Sarayu-Gharghari con- fluence moved nearer to Gopratara. There was a change of course in Sarayu and the Tilottama canal because of the main river-bed. This changed course of the rivsr may be called Upa-Sdrayu. The *tirthas* down the Gopratara and upto Svargadvara went dry. New *tirthas* like Bilvatirtha and others lying on the new course of the river came up. So, the old AM. of Skandapurana became outdated and a new AM. was provided by way of Rudrayamala tradition. This was the Ayodhya of Buddha's time.

(4) **The island stage:**—Gradually the Saraya-Gharghara confluence started shifting back to its original place. The water of Sarayu also started flowing through its original course. Thus, Sarayu now became bifurcated near about Gopratara in two streams—the original course and the later upa-Sarayu stream. Ayodhya became an island between the two streams. The *tirthas* between Bilva tirtha and Svargadvara came into existence as a result of this.

(5) **Post-island stage :**—In the first half of this stage the Upa-Sarayu stream started drying up. This is noted by a sub-recension of Ramayana followed in the Vahni-purana (unpublished). This might have been in Maurya-Shunga period. Later on, Upa-Sarayu practically dried up. This might have been at the time of Kalidasa.

(6) **Tilodaki stage :**—Later on, apart from being dried up Upa-Sarayu became totally disconnected from Sarayu. Gradually it turned into a small rivulet drawing the excess waters of local lowlands. Its

water, as a result, became dark and it came to be known as Tilodaki. In this stage the new *tirthas,* which had come up at the Upa Sarayu stage, became waterless, getting only flood-waters of present Sarayu. This stage continues upto the present time.

These questions ask for active consideration of Sanskrit scholars, students and general readers as well.

We have our own reservations about suggestions put forward by the learned author, but will wait for the comments of the scholars and students. Of the above questions the points nos. VII and IX need immediate answer as these points are small yet of constant day-to-day use. We will have to take some decision regarding it in our future publications.

—R. S. Bhattacharya
MA. Ph.D. Vyakaraṇacharya
Editor, Purāna,
All-India Kashiraj Trust
Fort Ramanagar, Varanasi

विषयसूची

क्रमाङ्काः	विषयाः		पृष्ठानि
	प्रावेशिकी		i-iv
	Prefatory Note of Ayodhyā Tirtha Praśhamsā		v-xii
	।।प्रथमोऽध्यायः।।		1–39
1.0.0	मङ्गलाचरणम्	1	
2.0.0	ग्रन्थपरिचयः	2	
2.1.0	ग्रन्थमहत्त्वम्	2	
2.2.0	बाकरस्य भ्रान्तिः	3	
2.3.0	विषयवस्तु	3	
2.4.0	ग्रन्थालोचनम्	4	
2.5.0	वर्णनक्रमः	4	
2.6.0	स्वतन्त्रः ग्रन्थः	4	
2.7.0	मूलस्रोतः	5	
2.8.0	कालविचारः	7	
3.0.0	पाठनिर्णयसिद्धान्तः	9	
3.1.0	अनुस्वारविचारः	10	
3.2.0	पञ्चमाक्षरविचारः	11	
3.3.0	वैयाकरणानां विचारः	13	
3.4.0	हस्तलेखेषु अनुस्वारविचारः	14	
3.5.0	भाषाद्वैविध्यम्	17	
3.6.0	व्यञ्जनद्वित्वम्	20	
3.7.0	सन्धिविचारः	23	
4.0.0	यतिविचारः	29	
4.1.0	श्लोकानां विभागः	31	
4.2.0	कोशानां विवरणम्	33	
4.3.0	पाठप्रस्तारः	34	
4.4.0	सङ्केतसूची	38	

	।।द्वितीयोऽध्यायः।।		40–54
4.5.0	अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः विषयानुक्रमः	40	
4.6.0	मूलग्रन्थः पाठान्तरानुवादसहितः	41	
	।।तृतीयोऽध्यायः।।		54–105
5.0.0	बिल्हारघट्टः	55	
5.1.0	गोप्रतारतीर्थम्	55	
5.2.0	गुप्तहरितीर्थम्	61	
5.3.0	स्वर्गद्वारतीर्थम्	62	
5.4.0	तिलोदकीनद्याः रहस्यम्	69	
5.5.0	तिलोत्तमातिलोदक्योः ऐक्यम्	69	
5.6.0	उपसरयुस्थितिः	70	
6.0.0	द्वीपस्थितिः	76	
6.1.0	द्वीपस्थितौ साक्ष्यम्	76	
6.2.0	कृत्यकल्पतरोः साक्ष्यम्	79	
6.3.0	तीर्थानां विकासक्रमः	81	
6.4.0	द्वीपोत्तरकालस्थितिः	81	
6.5.0	तापसाश्रमः	84	
6.6.0	कालिदासस्य दृष्टिः	86	
7.0.0	तिलोदकीस्थितिः	87	
7.1.0	तिलोदक्याः कालः	88	
7.2.0	अयोध्यायामशोकवाटिका	90	
7.3.0	अयोध्यायाः पर्वताः	90	
7.4.0	अष्टापदपर्वतः	92	
7.5.0	रामस्याशोकवाटिका	93	
7.6.0	तिलोत्तमा दीर्घिका	93	
8.0.0	कुल्यायाः सरय्वासम्बन्धः	95	
8.1.0	तिलोत्तमायाः जलम्	96	
8.2.0	तिलोत्तमायाः प्रयोजनम्	96	
8.3.0	मणिपर्वतः, रत्नाद्रिश्च	97	
8.4.0	उद्देशभूमयः	99	
8.5.0	सौगन्धिकं वनम्	100	
9.0.0	निष्कर्षः	101	
	सहायकग्रन्थानांसूची		106-108

।। प्रथमोऽध्यायः।।

अयोध्यातीर्थप्रशंसा

1.0.0 मङ्गलाचरणम्—अथायमारभ्यते अयोध्यातीर्थप्रशंसाग्रन्थः। तत्रादौ विघ्नविघाताय सायणभाष्येण सह वेदोक्ते सरय्वयोध्ये स्मृतिपथमानीयेते–

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्
महो मही अवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो
घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत।। (10/64/9)

सरस्वती। सरयुः। सिन्धुः। ऊर्मिऽभिः। महः। मही। अवसा। आ। यन्तु। वक्षणीः। देवीः। आपः। मातरः। सूदयित्न्वः। घृतऽवत्। पयः। मधुऽमत्। नः। अर्चत।

(सायणः) महः महतोऽपि महीः महत्योऽत्यन्तं महत्यः ऊर्मिभिः सहिताः सरस्वती सरयुः सिन्धुः एतदाद्या एकविंशतिसंख्याकाः वक्षणीः इमा नद्यः अवसा रक्षणेन हेतुना आ यन्तु अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छन्तु। ततः देवीः देवनशीलाः मातरः मातृभूताः सूदयित्न्वः प्रेरयित्र्यः तासाम् आपः घृतवत् घृतयुक्तं मधुमत् मधुसहितमात्मीयं पयः नः अस्मभ्यम् अर्चत प्रयच्छन्तु।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।।

(अथर्व. 10/2/31; 16/62/3 पैप्पलाद) (द्र. तै.आ. 1/27/3 हिरण्मयः, स्वर्गो लोको ज्यो ...)

(सायणः) पूरिति शरीरमुच्यते। देवानामिन्द्रादीनां पूरष्टाचक्रा। चक्रवदावरणभूतास्त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजोरूपा अष्टौ धातवो यस्याः सेयमष्टचक्रा। शिरोवर्तिभिः सप्तभिर्द्वारैरधोवर्तिभ्यां द्वाराभ्यामुपेता नवद्वारा अयोध्या कर्मगतिमन्तरेण केनापि प्रहर्तुमशक्या। तस्यां पुरि हिरण्मयः सुवर्णनिर्मितपदार्थसदृशः कोशोऽवकाशरूपः स्वर्गः सुखमयो लोकः स्थानविशेषो ज्योतिषा भासकेन जीवचैतन्येनावृतः परिवेष्टितो वर्तते। (तै.आ. भाष्यम्)

देवानामप्ययोध्या असाध्या दुर्लभा पूः नगरी श्रीचक्रम् इत्यर्थः। चक्रं पुरं च सदनमगारं च गुहा स्त्रियाम् इति शङ्करारण्यधृतविश्वाख्यकोशात्।

ईश्वरावासरूपायोध्यानगरी तु मर्त्यानाम् अयोध्या। इयं तु देवानामपीत्यर्थः। सा कीदृशी। अष्टाचक्रा अष्टौ चक्राणि अष्टारं द्वे दशारे मन्वस्रं अष्टदल-षोडशदलपद्मे भूमित्रयं भूगृहत्रयं चेति यस्यां सा योनिद्वारवत् त्रिकोणानि यस्यां सा (भास्करकृत-ललितासहस्रनामभाष्यम्, पृ. 179)

अष्टकोण-दशकोण-द्वितय-चतुर्दशकोण-अष्टपत्र-षोडशपत्रत्रिबलयत्रिरेखात्मकानि अष्टौ चक्राणि यस्याः सा अष्टाचक्रा। अतएव नवद्वारा नवसंख्याकानि द्वाराणि त्रिकोणरूपाणि यस्यास्सा नवद्वारा। देवानामिन्द्रादीनां पूज्यत्वेन संबन्धिनी पूः श्रीविद्यानगरम्। यद् वा -दीव्यन्तीति देवाः पञ्चविंशतिस्तत्त्वानि, तेषां पूरधिष्ठानम्। यद् वा सूर्यचन्द्रादीनां पूः, सोमसूर्यानलात्मकत्वात् श्रीचक्रस्य। तस्य पुरत्रयसमष्टिरूपत्वात् पूरित्येकवचनसिद्धिरिति ध्येयम्। अयोध्या असाध्या, मन्दभाग्यानामिति शेषः।

2.0.0 ग्रन्थपरिचयः—नरसिंहपुराणस्य 'अयोध्यातीर्थप्रशंसा' नामकः अध्यायः अद्यावधि अप्रकाशितः। अस्य अध्यायस्य तीर्थवर्णनात्मकाः श्लोकाः श्रीमित्रमिश्रेण स्वकीये 'वीरमित्रोदये' तीर्थप्रकाशखण्डे उद्धृताः। तत्र 'नरसिंहपुराणे' इति निर्देशः अपि कृतः। किन्तु अस्य अध्यायस्य आरम्भिकाः 1-4 यावद् उपक्रमरूपाः श्लोकाः, 46 तमः उपसंहाररूपः श्लोकश्च न उद्धृताः। श्रीमता डॉ. बाकरेण स्वकीये 'अयोध्यामाहात्म्ये' (II पृ. XVII) उल्लिखितं यद् डॉ. हाजरामहोदयस्य अनुसारेण अयम् अध्यायः नरसिंहपुराणस्य प्रचलिते संस्करणे न दृश्यते, किन्तु एतस्य द्विपञ्चाशत्तमात् रामप्रादुर्भावनाम्नः अध्यायात् परं, त्रिपञ्चाशत्तमात् कृष्णप्रादुर्भावनाम्नः अध्यायात् पूर्वं कतिपयेषु नरसिंहपुराणस्य हस्तलेखेषु स्थितिः दृश्यते।

डॉ.बाकरेण लन्दनस्थ-इण्डियाऔफिसस्थितस्य नरसिंहपुराणस्य हस्तलेखाद् अयोध्यां-प्रशंसायाः बहुशः श्लोकाः अयोध्यामाहात्म्यस्य संस्करणे तत्र तत्र तीर्थवर्णने उद्धृताः। न तेनापि खलु सर्वे श्लोकाः उद्धृताः, इण्डियाऔफिसपुस्तकालयस्य डॉ. बाकरेण प्रयुक्ते हस्तलेखे अपि अयम् अध्यायः 'रामप्रादुर्भाव'नाम्नः अध्यायात् परं दृश्यते। किन्तु तत्र रामप्रादुर्भावनामकः अध्यायः पञ्चाशत्तम-अध्यायरूपेण संख्यातः। अतएव तस्मिन् हस्तलेखे अध्योध्याप्रशंसा-अध्यायस्य संख्या एकपञ्चाशत्तमी भवितुम् अर्हति इति अनुमेयम्। अस्माभिः अयमध्यायः काशिराजकीये 'सरस्वतीभण्डारगते' हस्तलेखद्वये दृष्टः। तयोरपि अयमध्यायः रामप्रादुर्भावात् परं पठ्यते। अयोध्याप्रशंसा तु 48 तमः अध्यायः। अध्यायानां संख्यापरिगणनायाम् ईदृशम् अन्तरं प्रायेण रामायणपुराणादिकेषु ग्रन्थेषु दृश्यते एव। तत्तेन प्रक्षिप्तेन भूयेत, सर्गाणाम् अन्यथा विभागेन वा।

2.1.0 ग्रन्थमहत्त्वम्—एतस्मिन् अयोध्याप्रशंसानामके ग्रन्थके सन्ति बहूनि तीर्थानि, येषां नामानि अपि अयोध्यामाहात्म्ये न दृश्यन्ते। किन्तु, तेषु कतिपयानां तीर्थानां

समर्थनं पुराणान्तरैः क्रियते। अत एव अयोध्यामाहात्म्ये अदृष्टानां तीर्थानां वर्णनम् एतस्मिन् ग्रन्थे लभ्यते। अतस्तानि महत्त्वपूर्णानि। डॉ. बाकरस्तु अयोध्यामाहात्म्यस्य संपादने एव व्यापृतः, अत एव अयोध्यामाहात्म्ये चर्चितानां तीर्थानां वर्णनस्य संपादनप्रसङ्गे 'अयोध्याप्रशंसायाः' प्रासङ्गिकाः श्लोकाः एव उद्धृताः। अयोध्याप्रशंसायाः अन्ये श्लोकाः अयोध्यामाहात्म्ये अचर्चितानां तीर्थानां वर्णनात्मकाः, किन्तु, न तेन कुत्रापि उद्धृताः। स्पष्टं च, यद् अयोध्यास्थ-तीर्थानां साङ्गोपाङ्गम् अध्ययनाय एतेषां श्लोकानाम् अपि प्रकाशनम् आवश्यकम्। अपि च, डॉ. बाकरेण अयोध्याप्रशंसायाः उपक्रमात्मकाः श्लोकाः अपि न उद्धृताः।

अतः एतस्य लघुग्रन्थस्य स्वतन्त्रसंस्करणस्य प्रकाशनं सु अपेक्षितम् इति कृत्वा अस्माभिः नरसिंहपुराणस्य हस्तलेखानाम् अनुसंधाने प्रवृत्तम्। दैवाद् अकष्टेन द्वौ हस्तलेखौ काशिराजीयसरस्वतीभण्डारे (पुस्तकालये) लब्धौ। हस्तलेखम् आश्रित्य मित्रमिश्रस्य उद्धरणस्य, बाकरस्य च इण्डियाऔफिसपुस्तकालयस्य हस्तलेखस्य साहाय्येन अद्य इदं संस्करणं चतुः कोशाधृतं प्रकाश्यते।

2.2.0 बाकरस्य भ्रान्तिः—उचितम् अत्र एकस्मिन् विषये स्पष्टीकरणम्। डॉ. बाकरेण (अ.म.II पृ. XVII) लिखितं यद् मित्रमिश्रेण तीर्थप्रशंसायाः 1-11 पर्यन्तं श्लोकाः नरसिंहपुराणाद् उद्धृताः, ततः परं 'तस्मिँस्तीर्थे नरः ... सर्वपापैः प्रमुच्यते।।' इत्यारभ्य ग्रन्थान्तं यावत् (47 श्लोकपर्यन्तम्) महाभारताद् उद्धृतं, वस्तुतस्तु तन्न। श्लोक 11 तः परं मित्रमिश्रेण-'तथा गोप्रतारमधिकृत्य, भारते-''तस्मिँस्तीर्थे ... प्रमुच्यते'' इति महाभारतस्य एकः एव श्लोकः उद्धृतः, ततः परं न किञ्चिद् उल्लिख्य तेन पूर्वप्रवर्तितं नरसिंहपुराणस्य उद्धरणम् एव पुनः प्रवर्तितम्। 'भारते' इत्यस्य संबंधः एकेनैव श्लोकेन, न तु पुरस्ताद् उद्धृतैः अन्यैः श्लोकैः। अत एव ते श्लोकाः 'मित्रमिश्रेण महाभारताद् उद्धृताः'-एवं वदन् डॉ. बाकरः भ्रान्तः एव।

2.3.0 विषयवस्तु—कस्यचिद् अपि ग्रन्थस्य परिचयः तस्य विषयवस्तुना एव क्रियते। अत एव अयोध्याप्रशंसायाः परिचयाय पाठकैः एतस्य विषयानुक्रमणिका द्रष्टव्या। सा तु पुरस्तात् प्रस्तोष्यते।

एतस्य ग्रन्थस्य सम्पादने अस्माभिः महता आयासेन बहुषु सम्पादन-सिद्धान्तेषु, अनुस्वारविचारः, सन्धिविचारः, व्यञ्जनद्वित्वविचारः, नवीनपाठप्रस्तारस्य विभावना, अन्येभ्यः ग्रन्थेभ्यः विभिन्ना संकेतप्रणाली च सुविस्तृतं विचारिता विवेचिता च। एतस्य अपि अस्य लघुग्रन्थस्य सहजम् एव सम्पादनं समभविष्यत्। किन्तु, एतेषां विषयाणां विवेचने अस्ति अत्र किञ्चित् प्रयोजनम्। एते बहवः विषयाः रामायणस्य (बड़ौदासंस्करणम्) पाठसमीक्षकैः न विचारिताः, न वा महाभारतस्य भण्डारकरसंस्करणे सूक्थणकरादिभिः, न वा पुनः काशिराजन्यासेन प्रकाशितेषु पुराणस्य

पाठसमीक्षात्मकसंस्करणेषु। ग्रंथलेखनकाले तु पुराणविभागेन 'अयोध्यामाहात्म्यस्य' प्रकाशयिष्यनाणं संस्करणं असम्पन्नमेव आसीत्। तदानीम् अहं तत्रैव कार्यं कुर्वन् आसम्। मम इच्छा आसीद् यदा विद्वांसः अनुमोदेरन् तदा इयमेव सम्पादनशैली तत्र अपि स्यात्। स तु नाति अल्पकायः ग्रन्थः। तत्र अपि अस्माभिः अस्य ग्रन्थस्य एव प्रणाली अनुसरणीया। तस्माद् एव कारणाद् विदुषां समक्षम् एतद् विषयकाः विचाराः अत्र स्फुटं प्रकटीकृताः। अस्माकं निवेदनं यद् विद्वद्भिः विद्यार्थिभिः च स्वस्व वैमत्यं, सम्मतिः वा, अस्मासु प्रेषणीया। स्वमतं कारणैः सह प्रतिपाद्यताम्। भवताम् आलोचनाभिः उपकृतैः अस्माभिः अयोध्यामाहात्म्यस्य सम्पादने प्रावर्तिषीष्ट।

2.4.0 ग्रन्थालोचनम्—ग्रन्थस्य परिचये दत्ते, एतस्मिन् विषये केचन विचाराः अत्र उत्क्षिप्यन्ते। प्रथमं तावद् ग्रन्थे वर्णितानि तीर्थानि अधिकृत्य विचार्यते–

स्वयमेव ग्रन्थकारेण उक्तं यद्, अयोध्यायाः अनेकानि तीर्थानि। न सम्भवं तेषां सविस्तरं वर्णनम्। अतएव संक्षेपेणैव कथ्यते मया इति (श्लोक 5-6)। अत्र न केवलं वर्णनसंक्षेपः, अपितु सर्वेषां तीर्थानां वर्णनाभावः अपि प्रतीयते। मुख्यानां तीर्थानाम् एव वर्णनं मार्कण्डेयेन प्रतिज्ञातम्– **'कानिचित् प्रथितानि वै'** एतेन तत्कालिक्याम् अयोध्यायाम् एतेषां बहूनां ग्रन्थवर्णनाद् अतिरिक्तानां च तीर्थानाम् उपस्थितिः सु प्रमाणिता।

2.5.0 वर्णनक्रमः—अस्मिन् ग्रन्थे ऊनचत्वारिंशता श्लोकैः पंचदशसंख्यकानि तीर्थानि वर्णितानि। तानि तु क्रमशः गोप्रतारम्-5, तिलोदकीतीर्थम् 1, चक्रतीर्थम्-2, अग्नितीर्थम्-1, बृहस्पतिकुण्डम्-5, ब्रह्मकुण्डम्-6, कोटितीर्थम्-3, सप्तर्षितीर्थम्-1, स्वर्गद्वारम्-9, सरयूघर्घरसंगमः-1, बाल्यखिल्याश्रमः-1, बिल्वतीर्थम्-1, गालवतीर्थम्-1, रामतीर्थम्-1, जटाकुण्डम्-1 च श्लोकेषु वर्णितानि। एतेषां वर्णनानां अस्ति कोऽपि क्रमः, न वा इति तु विचारणीयम्। कर्त्तव्यः च एतेषां स्थाननिर्णयः। केषु च पूर्ववर्तिषु ग्रन्थेषु परवर्तिषु वा इमानि वर्णितानि। ईदृशानां प्रश्नानां किञ्चिद् विचारः अस्माभिः 'सत्योपाख्यानस्य परिचयः' इति नाम्नि प्रबन्धे कृतः। विशेषतस्तु विद्वद्भिः विचारणीयम्। अत्र इत्येव वक्तव्यं यत् प्रायेण अस्मिन् ग्रन्थे तीर्थानामेव उल्लेखः, न तु तत्रस्थानां देवविग्रहाणां, देवायतनानां वा। एकः एव अत्र अपवादः, तत्तु बिल्वतीर्थम्, यत्र शंकरस्य आयतनं उल्लिखितम् (श्लो. 42)। प्रायेण तीर्थग्रन्थेषु तीर्थदेवानाम् अपि उल्लेखः दृश्यते। इदं तु एतस्य ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यं, मूलस्य वा ग्रन्थस्य वैशिष्ट्यं, यस्माद् एतानि तीर्थानि एतस्मिन् ग्रन्थे उद्धृतानि, अथ वा, संक्षेपणचेष्टायाः अयं परिणामः इति न वक्तुं शक्यम्।

2.6.0 स्वतन्त्रः ग्रन्थः?—डॉ. हाजरामहोदयस्य उपरिष्टाद् उद्धृतेन वचनेन (1.1) स्पष्टं यद्, अयम् अध्यायः नरसिंहपुराणे कस्मिंश्चित् काले प्रक्षिप्तः। अत्र तावद् विचारणीयं यद्, अयं नरसिंहपुराणस्य प्रक्षेपकारेण रचितः, अथवा, अयोध्याप्रशंसा

स्वतन्त्रः एव ग्रन्थः, यः कालक्रमेण नरसिंहपुराणे अंगीकृतः प्रक्षेपकारेण। प्रथमे पक्षे तु, एतस्य रचना नरसिंहपुराणात् परम् एव सम्भवा, द्वितीये पक्षे, एतस्य रचना नरसिंहपुराणात् परं, समकालिकं, पूर्वं वा, भवितुम् अर्हति। मन्ये, अयं कोऽपि स्वतन्त्रः लघुग्रन्थः, यश्च कालेन नरसिंहपुराणे अन्तर्भूतः। प्रायेण प्रक्षिप्ताः अंशाः मूलग्रन्थात् परवर्तिनः जायन्ते। किन्तु नेदं सार्वत्रिकम्। संभाव्यते यद् मूलग्रन्थस्य समसामयिकः, तस्मादपि पूर्ववर्ती वा कोऽपि ग्रन्थः परवर्तिग्रन्थे प्रक्षिप्येत। अत एव अयोध्याप्रशंसायाः रचनाकालः नरसिंहपुराणस्य रचनाकालनिर्णयात् स्वतन्त्ररूपेण कर्त्तव्यः। तत्र विषयवस्तु भाषादिकं वा साक्ष्यरूपेण ग्राह्यम्।

2.6.1. प्रथमपक्षः अत्र साधुः। अत्र हेतुः। प्रायेण अत्र तीर्थफलस्य उल्लेखे नरसिंहस्य प्राधान्यम्। अपि च यत्र स्वर्गफलप्राप्तिः उक्ता, तत्र अपि स्वर्गात् परं नरसिंहलोकस्य प्राप्तिः एव प्रतिज्ञाता। यथा च मूलग्रन्थे 19 तमः श्लोकः। एवमेव 26, 27 तमयोः श्लोकयोः अपि ज्ञेयम्। तीर्थकृत्ये अपि नरसिंहपूजनस्य बहुशः चर्चा कृता (द्र. श्लोकः 37)। एतत्तु एतस्य ग्रन्थस्य एव वैशिष्ट्यम्। न हि तद् ग्रन्थान्तरेषु अयोध्यामाहात्म्य-आदिषु दृश्यते। अतएव अनुमेयं यद्, अयं ग्रन्थः नरसिंहपुराणस्य प्रक्षेपकृता एव विरचितः सन् प्रक्षिप्तः। न हि अयं पृथक् स्वतन्त्रः ग्रन्थः। यः परवर्तिकाले नरसिंहपुराणे सन्निविष्टः। अतः अस्य रचनाकालः नरसिंहपुराणस्य रचनाकालात् परमेव।

2.6.2. किन्तु उपरि कल्पनायाम् अस्ति किञ्चिद् वैमत्यावकाशः। अस्य ग्रन्थस्य एकस्मिन् स्थले, मूलपाठे नरसिंहपूजनस्य समावेशस्य चेष्टा स्पष्टं प्रतीयते। 39 तमस्य श्लोकस्य *a* चरणात् परं द्वौ चरणौ अतिरिक्तं पठ्येते B हस्तलेखे (द्र.प्र. 1)। अयं अस्माभिः प्रक्षिप्तः मतः। नरसिंहपूजनसमावेशस्य ईदृशी चेष्टा अत्रैव, अथ वा, अन्येषु स्थलेषु अपि कृता? अस्ति अत्र कल्पनायाः अवकाशः। यत्, मूलतः कुत्रापि नरसिंहपूजनं न वित्तम् एतस्मिन् ग्रन्थे। अपि तु, नरसिंहपुराणे एतस्य ग्रन्थस्य सन्निवेशकाले ईदृशं परिवर्तनं कृतं प्रक्षेपकारेण। एतद् विषये न हि इदानीं दृढं वक्तुं शक्यते। तत् कृते तु अन्येषां हस्तलेखानां पाठमेलनं सुतराम् अपेक्षितम्।

2.7.0 मूलस्रोतः इदानीं विचार्यतां यद्, अयोध्याप्रशंसायाः श्लोकाः एतन्नामकाय ग्रन्थाय एव स्वतन्त्ररूपेण रचिताः। अथ वा, केचित् श्लोकाः, सर्वे वा, अन्येभ्यः ग्रन्थेभ्यः, ग्रन्थाद् वा उद्धृताः। एतस्मिन् विषये द्वौ श्लोकौ विचारणीयौ-(क) अत्र तावत् प्रथमः, 23तमस्य श्लोकस्य *e* चरणे 'विप्रेंद्र' इति संबोधनं सर्वेषु कोशेषु दृश्यते। केवलं B कोशे तत् 'राजेन्द्र' इति पठ्यते। स्पष्टः एव अयं संशोधनस्य प्रयत्नः। R हस्तलेखे 'ते मुक्तपापविप्रेंद्र' इति पाठः दृश्यते। भवितुम् अर्हति अत्र 'मुक्तपापविप्रेंद्राः', अथ वा, 'मुक्तपापराजेंद्र' इति संबोधनपाठः। इमौ द्वौ अपि पाठौ ग्रन्थसंगतिलाभाय संशोधितौ, न तु ग्रन्थस्य मूलस्वरूपे स्थितौ।

2.7.1. 'अयोध्यातीर्थप्रशंसा' मार्कण्डेयराज्ञोः संवादरूपेण निबद्धा। अतः 'विप्रेंद्र' इति संबोधनेन अनुमातुं शक्यं यद् 23 तमः श्लोकः अन्यस्मात् ग्रन्थाद् उद्धृतः, आनीतो वा। अत्र अवधेयं यद्, डॉ. बाकरस्य मतेन पुरा काले वित्तः कश्चिद् अयोध्यामाहात्म्यविषयकः प्रकीर्णानां श्लोकानाम् असंबद्धः संग्रहः, स च तेन α 'अल्फा' नाम्ना अभिहितः। तस्मात् च संग्रहाद् अयोध्यामाहात्म्यस्य विभिन्नाः पाठपरंपराः निर्गताः। अयोध्यामाहात्म्यस्य स्कन्दपुराणस्य दशाध्यायि-अयोध्यामाहात्म्ये स्कन्द-नारद-अगस्त्य-कृष्णद्वैपायन (व्यास)-रोमहर्ष (सूत) भारद्वाजादि-मुनीनां संवादस्य परंपरा दृश्यते। एतादृशे निबन्धने 'विप्रेंद्र' इति संबोधनं प्राप्तमेव। तत् किम् अयं श्लोकः मूलतः अयोध्यामाहात्म्ये अन्तर्भूतः प्रभूतः? इति विद्वद्भिः विचारणीयम्।

2.7.2. इदानीं द्वितीयः श्लोकः विचार्यताम्। 11 तमश्लोकस्य *e* चरणे पाठस्य चरमनिर्णये, अस्ति अस्माकं सन्देहः। 'देववत्से' इति पाठस्तु पाठविज्ञानस्य सिद्धान्तेन अस्माभिः तात्कालिकरूपेण स्वीकृतः। तस्य संगतिस्तु विचारणीया। तत्र B कोशस्य पाठः, मित्रमिश्रस्य च पाठः, उभयत्रापि सरलीकरणस्य चेष्टा प्रतीयते। अत्र 'देववत्से' इदम् अपि संबोधनं किम्? अत्र विविधाः कल्पनाः ऊहितुं शक्याः। (i) अयोध्यामाहात्म्यस्य त्रिंशदध्यायिशाखायां, तथा च डॉ. बाकरेण उक्तायां B.P. शाखायां, उभयोः अपि शङ्करस्य पार्वतीस्कन्दाभ्यां सह संवादः दृश्यते। तत्र 'सवत्से देवि' ईदृशं संबोधनम्, अथ वा, केवलं पार्वतीं, केवलं स्कन्दं वा, संबोध्य संवादस्य प्रवर्तनं लभ्यते। तत् किं देवि वत्से 'सामान्ये नपुंसकम्' इति न्यायेन द्विवचनान्तं सम्बोधनम्?, पुनस्तत् पाठभ्रंशाद् 'देववत्से' इत्येवं रूपेण परिणतम्?

2.7.3. अथ वा, 'देववत्से' अत्र बहुव्रीहिसमासः, पार्वत्याः च विशेषणम्।

2.7.4. तत्पुरुषसमासः वा अत्र, देवतात्मनः हिमवतः पुत्रीत्वेन राजपुत्रिवत् देवपुत्रि, देववत्से वा महादेवेन पार्वती संबोधिता स्यात्। एवं कृते 'देववत्से' इत्यपि संबोधनं समर्थयितुं शक्यते।

2.7.5. अथ वा, 'देववत्स' इति वा मूलपाठः स्याद् भूतः, स्कन्दस्य इदं संबोधनं, यत् देववत्से इत्येवं रूपेण विकृतम्। B हस्तलेखस्य- 'देवत्वं स तदाप्नोति' पाठःप्रकारान्तरेण 'देववत्स' इति पाठस्य पक्षे योजयितुं शक्यते, स्कन्दस्य पार्वत्याः वा, पार्वतीस्कन्दयोः वा संबोधनस्य पक्षे। अयं श्लोकः अयोध्यामाहात्म्यस्य एकतमायाः शाखायाः मूलस्रोतसः उद्धृतः। तच्च मूलस्रोतः बाकरेण उल्लिखितम्, स एव अल्फा (α) संग्रहः (2.41 पृ.)

2.7.6. 'देववत्स' इति गोप्तारस्य तीर्थस्य अपि विशेषणं भवितुम् अर्हति, अर्थस्तु देवस्य, देवानां वा प्रियः। ईदृशाः प्रयोगाः प्राचीनेषु ग्रन्थेषु न अलभ्याः। 'वल्लभेन स्वयम्भुवः' (6.74.12a बम्बईसंस्करणम्) इति गायता वाल्मीकिना ब्रह्मणः

वल्लभं=ब्रह्मास्त्रं विवक्षितम्, स्पष्टीकृतं च टीकाकारैः। गोविंदराजेन–'स्वयम्भुवो वल्लभेन इन्द्रजिता ब्रह्मास्त्रेण वा' इति लिखितम्, किन्तु तिलककारेण तु–'स्वयम्भुवो वल्लभेन=ब्रह्मास्त्रेण इत्यर्थः' लिखितम्। शिरोमणिकारेण अपि एवम् एव '... वल्लभेन अस्त्रेण' इत्यलेखि। एवं हि गोप्रताराय 'देववत्स' इति विशेषणे किं चित्रम्?

2.7.7. अथ वा 'देववत् स' इति अत्र असंहितम् उच्चारणम्। 'देववत्' इति नात्र क्रियाविशेषणम्, अपितु 'स' इति पदस्य विशेषणम्। अतिशय-सौभाग्यशालित्वेन 'गोप्रतारे' स्नायकः देवस्वरूपः स्मृतः। अथ वा, स्मर्तव्यः अत्र रामायणस्य माहाप्रस्थानिकः प्रसङ्गः। तत्र सर्वे गोप्रतार-स्नायकाः दिव्यशरीरं प्राप्ताः, सन्तानिकं च गताः। अत एव अत्रापि 'देववत्' इति पदेन देवस्वरूपभूतः इति विवक्षितम्। न तु अत्र शरीरपातः, अपितु एतस्मिन् एव शरीरे देवत्वस्य आधानं विवक्षितम्। अत एव 'देवस्वरूपभूतः सः ... आप्नोति' इत्यर्थः स्वीकृतः।

एवं हि उपर्युक्तेषु बहुषु विकल्पेषु प्राप्तेषु अस्माभिः सम्प्रति RS शाखयोः पाठः एव तात्कालिकरूपेण अवलंबितः। उपरितनस्य विवेचनस्य निर्गलितार्थोऽयं यद् विद्वद्भिः उपर्युक्तस्य स्थलद्वयस्य पाठो विचारणीयः। अयोध्यामाहात्म्यस्य च विभिन्नासु शाखासु, महाभारत-पुराणादिषु, ग्रन्थान्तरेषु वा, एतयोः श्लोकयोः पाठः न चेत् लभ्येत तदपि अयोध्यामाहात्म्यस्य, सम्प्रति अनुपलब्धस्य, मूल-श्लोक-संग्रहात्मक-अल्फा (α) स्वरूपे एतयोः पाठयोः स्थितिः कल्पितुं शक्यते एव।

2.8.0 कालविचारः—इदानीमस्य ग्रन्थस्य कालविचारे प्रवर्तितव्यम्। स तु–(क) हस्तलेखसाक्ष्येण (ख) ग्रन्थान्तरसाक्ष्येण (ग) विषयवस्तुविचारेण (घ) भाषाशैलीविचारेण वा सम्भवः।

डॉ. राघवन्संपादिते 'कैटलगस्कैटलगोरम्' (हस्तलिखितग्रन्थानामनुक्रमणिका-कोशः) ग्रन्थे नरसिंहपुराणस्य सम्प्रति उपलब्धानां हस्तलेखानां संख्या उल्लिखिता। हस्तलेखानां लिपिभिः, लेखनस्थलैः, कदाचित्तु प्राप्तिस्थलैः, संख्याभिः च ग्रन्थस्य प्रचारक्षेत्रस्य विस्तारः अनुमीयते। ग्रन्थस्य प्रचारस्तु वैज्ञानिक-सुविधावर्जितेषु प्राचीनकालेषु विस्तृतक्षेत्रेषु कालसापेक्षः आसीत्। अतश्च ग्रन्थस्य प्रचारक्षेत्रेण अपि ग्रन्थस्य प्राचीनत्वम् अनुमेयम्। एतद्रीत्या नरसिंहपुराणस्य प्रचारक्षेत्रं निर्धारयितव्यम्। पुनश्च नरसिंहपुराणस्य येषु येषु हस्तलेखेषु अयोध्याप्रशंसा दृश्येत, तेषां मीमांसया अयोध्याप्रशंसायाः प्रचारक्षेत्रं निर्धारयितव्यम्। एवं प्रकारेण नरसिंहपुराणस्य अयोध्याप्रशंसायाः च रचनाकालविषये अनुसंधातृभिः किञ्चिद् अनुमेयम्। हस्तलेखानां लिपिकालः ग्रन्थस्य प्राचीनत्वे साक्षात् प्रमाणम्।

2.8.1. ग्रन्थान्तरसाक्ष्यरूपेण तु एतावदवधि-पर्यन्तम् अयोध्याप्रशंसायाः उद्धरणं मित्रमिश्रस्य 'तीर्थप्रकाशे' एव लब्धम्। एतेन सनिश्चयं वक्तुं शक्यते यद्, एतस्य

रचनाकालः न्यूनातिन्यूनं मित्रमिश्रात् प्रायेण शतं वर्षाणि पूर्वम् अथवा ततोऽप्यधिकम् स्यात्। अन्येषु ग्रन्थेषु अपि एतस्य उद्धरणम् उल्लेखो वा अन्वेष्टव्यः अनुसंधातृभिः।

2.8.2. विषयवस्तुविचारदृष्ट्या प्रथमं तावद् एतस्मिन् ग्रन्थे वर्णितानां तीर्थानां विषये विचारयितव्यम्। अत्र खलु पञ्चदश तीर्थानि वर्णितानि। डॉ. बाकरस्य मतेन (अयो. महा. I.132) तेषु चत्वारि अयोध्यामाहात्म्यस्य कासुचित् शाखासु अपि न दृश्यन्ते, तानि तु सप्तर्षितीर्थ–बाल्यखिल्यतीर्थ–गालवतीर्थ–कोटितीर्थ–नामानि। डॉ. बाकरस्य मतेन सम्भवतः इमानि न कदापि अयोध्याक्षेत्रे ख्यातानि, इति एतानि अप्रमाणिकानि मतानि, तथा च 'गोमत्यां रामतीर्थम्' अपि अप्रमाणिकं स्वीकृतं तेन। अत्र डॉ. बाकरः किञ्चिद् भ्रान्तः। अयोध्यामाहात्म्ये अनुल्लिखितेषु अपि एतेषु, कानिचित् तु पुराणैः चर्चितानि। गोमत्यां रामतीर्थम् अपि पुराणेषु ख्यातम् (द्र. डॉ. भट्टाचार्यस्य लेखः PURĀN, VOL. XXXIII.2)। अस्मिन् विषये किञ्चिद् विचारितम् अस्माभिः। मन्ये, सम्प्रति प्रचलितायाः 'अयोध्यामाहात्म्यस्य' परंपरायाः व्यतिरिक्ता काचित् परंपरा पुराकाले भूता। इदानीं सा अस्तंगता। रक्षिता किन्तु सा दृश्यते अयोध्याप्रशंसायाम्। अतो हि अयोध्याप्रशंसायां वर्णितां परंपराम् अप्रमाणिकीमिति वक्तुं न शक्यते। अपितु एतेन नरसिंहपुराणे वर्णितायाः अयोध्यातीर्थपरंपरायाः प्राचीनत्वम् एव द्योत्यते। अत्र तु विद्वद्भिः विचारयितव्यं यत्, कथं न अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः परंपरा अयोध्यामाहात्म्याद् अपि सुप्राचीनतरा मन्यते।

2.8.3. उपर्युक्तविवेचनेन स्पष्टं यद् भारतीयपरंपरासु ग्रन्थानां रचनाकालस्तु विचारणीयः एव; किन्तु तेन सहैव ग्रन्थे वर्णितायाः परंपरायाः अपि प्राचीनता स्वतन्त्ररूपेण विचारणीया। भवेत् नाम यत्, नातिप्राचीने अपि ग्रन्थे सुप्राचीनतरा परंपरा स्यात् संरक्षिता। अत्र अयोध्याप्रशंसायाः 44 तमः श्लोकः द्रष्टव्यः। इदानीं तु तीर्थेषु देवालयाः दृश्यन्ते; यात्रिभिः तत्र देवस्य दर्शनं पूजनादिकं च क्रियते। किन्तु पुराणेषु एका भिन्ना अपि प्राचीनपरंपरा लक्ष्यते। तीर्थेषु मृत्तिका, स्वर्णादिभिः वा देवविग्रहं निर्माय पूजनस्य विधानं दृश्यते। एते विग्रहाः न अचलप्रतिष्ठापरकाः। ते तु पूजनान्तरं विसर्जयितव्याः, ब्राह्मणेभ्यो दातव्याः वा भवन्ति स्म। 44 तमे श्लोके अपि एषा एव प्राचीना, किन्तु सम्प्रति प्रलुप्ता परंपरा स्मृता। एतेनापि अयोध्याप्रशंसायाः परंपरायाः प्राचीनत्वं सिद्धम्।

2.8.4. अन्यदपि वैशिष्ट्यम् एकं दृश्यते अस्य ग्रन्थस्य। बिल्वतीर्थाद् ऋते न कस्मिंश्चित् तीर्थे कस्यापि देवालयस्य देवदर्शनस्य वा चर्चा दृश्यते। किमिदं 6 तमे श्लोके उक्तस्य संक्षेपीकरणस्य परिणामः? अथ वा, विशुद्धतीर्थमाहात्म्यवर्णनमेव अस्य उद्देश्यम्, इति कृत्वा देवालयवर्णनादिकमुपेक्षितम्? किं वा, एतस्य ग्रन्थस्य परंपरायाः प्रवर्तनकाले तीर्थेषु नाना देवालयाः न निर्मिताः? उत वा, ते तस्मिन् काले यवन–शक–

हूण–मुसल्मीन–आदिभिः वैदेशिक–आक्रामकैः प्रभग्नाः? इति एते विषयाः ऐतिहासिकैः पौराणिकैः च अन्वेष्टव्याः।

2.8.5. किञ्चिद् तावत् भाषाविषयकम् अपि विवेचयितव्यम्। अस्मिन् ग्रन्थे केषुचित् स्थलेषु असन्धिपाठः सुसिद्धः। एतद्विषये पुरस्ताद् विचारयिष्यते। 27 तमश्लोकस्य b चरणे असंहितसमासस्य प्रयोगस्तु निर्विवादः। असंहितसमासस्य परंपरा अद्यतः वर्षाणां सहस्रद्वयपूर्वम् एव प्रलुप्ता। अत्र तस्य दर्शनं ग्रन्थस्य प्राचीनत्वसूचकम्। 46 तमस्य श्लोकस्य d चरणे अपि 'पद अत्युदारं' इति पाठः ऊहितुं कल्प्यते, किन्तु तत् प्रमाणान्तरसापेक्षम्।

2.8.6. अस्य कालविचारप्रसङ्गे एकं प्रमाणान्तरम् अपि विचारयितव्यम्। अस्मिन् ग्रन्थे 'गोप्रतारस्य' उल्लेखः गोप्तार इत्येवं रूपेण लभ्यते। लोके अपि तथैव प्रचलितम्। पुराणविभागस्य रामायण–अध्ययनशालायाः अपि इदं मतं यद् आद्यरामायणे अपि 'गोप्तार' इत्येव पाठो मन्ये स्यात्। तेषां मते 'गोप्तारः' लौकिकभाषायाः शब्दः, अथ वा शुद्धः संस्कृतः शब्दः एव। अस्मिन् विषये तेषां प्रकाशिते अध्ययने सुविवेचितम्। उल्लेखनीयं यद्, 'गोप्तार' इति प्रयोगः केषुचित् पुराणादिकेषु अधुना न दृश्यते। अथ वा भवितुमर्हति यत्, पुराणानां पाठवैज्ञानिक–संस्करणैः तेषु अपि 'गोप्तार' इति रूपस्य उद्धारः कृतः स्यात्। अयोध्याप्रशंसायां गोप्तारस्य प्रयोगेण द्वे अनुमाने सम्भवे–(क) एतस्य रचनाकृत् कोऽपि कोशलजनपदेन सुपरिचितः जनः। अथ वा (ख) 'गोप्तार' शब्दः प्राचीनः शास्त्रीयश्च, किन्तु परवर्तिकाले विलुप्तः। प्रथमे पक्षे 'गोप्तार' शब्दः प्राचीनः शास्त्रीयश्च, किन्तु परवर्तिकाले विलुप्तः। प्रथमे पक्षे 'गोप्तार'–शब्द–प्रयोगेण न किमपि कालानुमानं शक्यं, द्वितीये पक्षे तु 'गोप्तार' शब्दप्रयोगः ग्रन्थस्य प्राचीनत्वसूचकः।

3.0.0 पाठनिर्णयसिद्धान्तः— इदानीमस्य ग्रन्थस्य स्वीकृतं पाठं प्रति किञ्चिद् वक्तव्यम्। सर्वप्रथमं प्राप्तपाठान्तरेषु पाठनिर्णयसिद्धान्ताः मीमांसितव्याः।

प्राप्तपाठान्तरेषु R S पाठयोः स्पष्टतः एव अपपाठेषु अपि पाठसादृश्यं दृश्यते। यथा–2,4 तमयोः पद्ययोः। अतश्च एतयोः कोशयोः सनाभिसंबंधः सुसिद्धः। R S हस्तलेखौ वस्तुतः एकस्य एव कोशस्य प्रतिनिधिभूतौ; तौ न पुनः स्वतन्त्रौ। M B कोशयोः एतादृशः संबंधः अस्माभिः न दृष्टः। अतस्तौ स्वतन्त्रौ स्वीकृतौ।

3.0.1. येषां श्लोकानां M B कोशयोः पाठः नोपलब्धः, तत्र तु R S हस्तलेखाभ्यां पाठः निर्णीतः। यत्र पुनः चतुर्णां कोशानां पाठाः उपलभ्यन्ते, तत्र M कोशेन, B कोशेन वा समर्थितः R S कोशयोः पाठः गृहीतः। यत्र M B कोशयोः पाठस्य ऐक्यं, तथा च R S कोशयोः पाठः भिन्नः, तत्र प्रायेण M B कोशयोः पाठः एव स्वीकृतः, R S योः सनाभित्वात्।

3.0.2. सर्वत्र एव औचित्यविचारेण पाठाः स्वीकृताः। तत्र तु संपादकस्य मम विवेकः एव निर्णायकः। अतएव उपर्युक्तानां नियमानाम् अपवादः अपि क्वचिद् दृश्यते। तत्र स एव पाठः प्रायेण अस्माभिः वृतः, येन उपलब्धानां पाठान्तराणां सरलतमा व्याख्या संभाव्येत।

3.1.0 अनुस्वारविचारः—अनुस्वारस्य प्रयोगः कर्त्तव्यः, किं वा वर्णपंचमाक्षरस्य? अवसाने मकारस्य, अथवा, तत्रापि अनुस्वारस्य एव? इति अस्मिन् विषये किञ्चिद् विचारः आवश्यकः। प्रथमं तु इदमवधेयं यद् R S हस्तलेखयोः सर्वत्र एव अनुस्वारस्य प्रयोगः, न तु पंचमाक्षरस्य, न वा अवसाने मकारस्य। इदानींतनैः ग्रन्थसंपादकैः सर्वत्र पंचमाक्षरस्य, अवसाने 'म'कारस्य च प्रयोगः क्रियते। न च तैः एतद् विषयकं पाठान्तरम् अपि दीयते। अस्माभिः तु B हस्तलेखस्य पाठान्तराणि डॉ. बाकरस्य संपादनात् उद्धृतानि। अतो हि B हस्तलेखे अनुस्वारस्य प्रयोगविषये का स्थितिः इति न शक्यते वक्तुम्। न वा तेन कुत्रचित् अस्मिन् विषये स्पष्टीकृतम्। तेन तु प्रचलित-परंपरानुसारेण एव पंचमाक्षरस्य, मकारस्य च प्रयोगः अनुसृतः, न च पाठान्तरविषयकं किमपि निर्दिष्टम्।

3.1.1. प्राचीन-हस्तलेखनपरंपरासु अनुस्वारस्य एव प्रयोगः प्रायेण दृश्यते। केषांचित् प्रदेशविशेषाणामेव हस्तलेखेषु पंचमाक्षरस्य, मकारस्य वा प्रयोगो लभ्यते। अत्र ज्ञातव्यं यद् लोकभाषा-संस्कृतभाषयोः मर्मज्ञेन गोस्वामितुलसिदासेन सुप्रसिद्धे 'पंचनामा' लेखे केचित् संस्कृतश्लोकाः स्वहस्तेन लिखिताः। तत्र अपि अनुस्वारशैली एव महानुभावेन प्रयुक्ता। आश्चर्यं यद् आधुनिकैःपाठवैज्ञानिकैः-संपादकैः एतत् सर्वमपि साक्ष्यमुपेक्ष्य अनुस्वारप्रयोगः सर्वथैव तिरस्कृतः। 'न च किञ्चिद् अपि विवेचनं तैः पाठवैज्ञानिकैः अद्यावधि कृतम्' मयापि पूर्वम् अस्मिन् लेखे सर्वत्र अनुस्वारप्रयोगः एव कृतः। द्रष्टव्यं हि 'पुराणम्, वर्षम् 34, भागः 1, संस्कृतखण्डः VOL. XXXIII.2, परमत्र असौ पन्थाः परित्यक्तः, परम्पराप्राबल्यात्। अतो हि अत्र प्रवर्त्यताम् एतद् विषये किञ्चिद् विमर्शः।

3.1.2. मन्ये, अत्र न केवलं लेखनशैली, अपितु व्याकरण-परंपराभेदोऽपि अनुमीयते। उदीच्ये मध्यदेशे च 'सारस्वतचन्द्रिकायाः' प्रचलनं बह्वीः शताब्दीः यावद् भूतम्। सारस्वतचन्द्रिकाकारेण प्रचलितं शिष्टप्रयोगं दृष्ट्वा एव अनुस्वारस्य वैकल्पिकः प्रयोगः स्वीकृतः। अत्र सारस्वतचन्द्रिकायाः अधोलिखिताः पंक्तयः अवलोकनीयाः '17 मोनुस्वारः (2.3.18)' पदान्ते वर्तमानस्य मकारस्यानुस्वारो भवति हसे परे। यथा-तम् हसति, तं हसति। पटुम् वृथा, पटुं वृथा। कौमारास्त्ववसानेप्यनुस्वारमिच्छन्ति। 18 'अवसाने वा (2.3.19)' अवसाने मकारस्य अनुस्वारो वा भवति। यथा-देवम्, देवं। पुनश्च "20 ञमा यपेऽस्य (2.3.21), अनुस्वारस्य ञमा वा भवन्ति यपे परे ... शान्तः, शांतः।" ज्ञेयं च यत् 'कौमाराः' पदं वैयाकरणानां मते कातन्त्रव्याकरणस्य

वाचकम्। 'कातन्त्रम्' अपि सुप्राचीनं तन्त्रम्। इदं तु पुराकाले भारतवर्षस्य सीमावर्तिषु प्रदेशेषु वंग-कश्मीर-श्रीलंका-आदिषु विशेषेण प्रचलने गतम् (द्र. आर. एस. सैनीसम्पादितस्य कातन्त्रस्य भूमिका, पृ. 12, तथा डॉ. रामसागरद्वारा सम्पादितस्य कातन्त्रव्याकरणस्य भूमिका, पृ. 21।) तम्लिभाषायाम् आद्यव्याकरणस्य कातन्त्रव्याकरणमेव आधारभूतं, न तु पाणिनीयम्।

3.1.3. सारस्वतचन्द्रिकायाः प्रचलनं तु विशेषतः मध्यदेशे औदीच्ये चासीत्। अतएव आसेतु-हिमालयम् अनुस्वारस्य वैकल्पिकः प्रयोगः शिष्टैः स्वीकृतः प्रतीयते। अवैकल्पिकरूपेण पंचमाक्षरस्य, अवसाने च मकारस्य एव प्रयोगं प्रति निरतिशयः आग्रहः प्रदेशविशेषेषु एव सीमितः। एतस्य अतिशयेन आग्रहः वर्तमानकाले यद् दृश्यते तत्तु आंग्लानाम् आगमनात् परं पाश्चात्यविदुषां पाणिनिं प्रति अतिशयस्य प्रेम्णः परिणामः। काश्यां तु नातिपूर्वमेव संस्कृतविश्वविद्यालयादिषु सारस्वतचन्द्रिकायाः मान्यता, पठनपाठनं च दृश्यते स्म। तथा च मन्ये, इदानीमपि बहुषु देशेषु 'सारस्वतचन्द्रिका' आदृता स्वीकृता चैव। मम पितृचरणाः अपि सारस्वतचन्द्रिकायाः एव पण्डिताः आसन्। अनुस्वारशैली कैश्चित् पाणिनीयविरुद्धा मन्यते। अत्रापि पुनः विचारः कर्त्तव्यः। मन्ये, न सा शैली पाणिनीयविरुद्धाः एतद् अधिकृत्य किञ्चित् पुरस्ताद् वक्ष्यते।

3.1.4. अवसाने अनुस्वारस्य प्रसङ्गे अस्माभिः कातन्त्रस्य मतं सारस्वतचन्द्रिकाकारस्य अनुसारेण उद्धृतम्। किन्तु कातन्त्रस्य उपलब्धेन पाठेन अस्य विरोधः दृश्यते। अतो हि अपेक्षितः अत्र कातन्त्रसूत्राणां विमर्शः। एतस्मिन् एव प्रसङ्गे परसवर्णे अनुस्वारस्य अपि कातन्त्रमतेन विमृष्टव्यः। सन्धिवृत्तौ एतद् विषयकं सूत्रद्वयं दृश्यते-'मोऽनुस्वारं व्यञ्जने' (1.4.60 सैनीसंस्करणम् 1.4.14 रा. सा. मिश्र-संस्करणम्) अत्र दुर्गवृत्तिः **'मकारो पुनरन्तो व्यञ्जने परे अनुस्वारमापद्यते। त्वं यासि, त्वं रमसे। अन्त इति किं? गम्यसे। अनुस्वार इति संज्ञापूर्व्वको विधिरनित्यः, तेन सम्राट्, सम्राजो। 'वर्गे तद्वर्गपञ्चमं वा (1.4.61 सैनीसंस्करणम् 1.4.15 रा. सा. मिश्र-संस्करणम्)' अन्तोऽनुस्वारो वर्गे परे वर्गपञ्चमं वापद्यते। त्वङ्करोसि, त्वं करोसि। इति दौर्गसिंह्यां वृत्तौ सन्धौ चतुर्थः पाठः)।'**

3.2.0 पञ्चमाक्षरविचारः—अत्र तावत् पञ्चमाक्षरस्य विचारः प्रथमम् उपस्थाप्यते **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (पा.8.4.58)'** अस्य समानार्थकं मन्ये न किमपि सूत्रं कातन्त्रे। दुर्गवृत्तेः मतेन उपर्युक्तम् 1.4.61 तमं सूत्रं पदान्तस्य एव विधान करोति। एवं सती 'शान्तः' इत्यादिकः प्रयोगो न सिद्ध्येत्। अस्मिन् प्रयोगे न वा पंचमाक्षरं, न वा विसर्गः कातन्त्रेण विहितः। अतो हि कातन्त्रस्य 'दुर्गवृत्तौ' कृतस्य व्याख्यानस्य अनुसारेण शाम् तः इत्येवं प्राप्यते। इदं तु स्पष्टम् एव विसंगतम्। अत्र विचार्यतां विद्वद्भिः। एतस्य आपाततः समाधाने अस्माभिः किञ्चिद् उह्यते। अत्र पदान्तः इति न अनुवर्तनीयम्।

तस्माद् हि इदं सूत्रं पदान्तविषये अपदान्तविषये अपि प्रवृत्तम्। एवं हि पदान्तविषये 1.4.60 सूत्रेण प्राप्तः अनुस्वारः 1.4.61 सूत्रेण विकल्पितः; अपदान्तविषये तु मकारस्य विकल्पेन अनुस्वारः पञ्चमाक्षरं वा विहितम्। एवं हि 1.4.61 सूत्रं इत्थं व्याख्येयम्—'मकारः वर्गीयव्यञ्जनपरे, अनुस्वारत्वं तद् वर्गपञ्चमत्वं वा आपद्यते इति। अतो हि कातन्त्रतन्त्रे–'ग्रामं गच्छति, ग्रामङ्गच्छति, शांतः शान्तः इत्यादिकाः सर्वे प्रयोगाः सुसिद्धाः। इदमेव सारस्वचन्द्रिकायाः अपि मतम्, किन्तु तत्र नामतः न कातन्त्रस्य उल्लेखः कृतः।

अथ इदानीं विचार्यताम् अवसाने अनुस्वारस्य प्रपञ्चः। ऊह्यते अस्माभिः यत्, 1.4.60 सूत्रस्य पूर्वदृष्टः पाठः भ्रष्टतां गतः। पाणिनीयव्याकरणस्य प्रभावेण परवर्तिकाले 'व्यञ्जने' इति पदं केनचित् प्रक्षिप्तं। कातन्त्रे मूलतः इदं सूत्रं 'मोऽनुस्वारः' इत्येव पठितम् आसीत्। एतस्याः कल्पनायाः प्रसङ्गे निम्नलिखिताः युक्तयः अवधेयाः—

3.2.1. 'आर. यस. सैनी', रा. सा. मिश्र इत्युभयोः अपि संस्करणयोः, ग्रन्थस्य भूमिकायां स्पष्टं यत्, कातन्त्रस्य पाठः न हि पाणिनिवत् सुरक्षितः। प्रदेशानुसारि–शाखाभेदाः पाठेषु लभ्यन्ते, प्रधानतस्तु वंगीयशाखा, कश्मीरशाखा च। काले काले च तस्य कातन्त्रस्य उपबृंहणं, परिवर्तनं, परिवर्धनं च अनेकैः कृतम्। अतो हि दुर्गवृत्तौ, अन्यास्यां वा टीकायां, दृष्टः पाठः न सैद्धान्तिकं प्रमाणम्। अनुसंधातृभिः विविधानां कोशानाम् आलोडनमत्र अपेक्षितं, विशेषतस्तु मध्य–एशियायां लब्धः कातन्त्रस्य प्राचीनतमः हस्तलेखः। (द्र. कातन्त्रम्, सं. डॉ. रा.सा.मिश्रः, भूमिका, पृ. 7) पुनश्च इदम् अपि अवधेयं यत् कातन्त्रे परवर्तिकाले बहूनि परिवर्तनानि पाणिनीयव्याकरणेन समकक्षतां प्रतिष्ठापयितुं कृतानि। अतो हि 1.4.61 सूत्रे पाणिनीयप्रभावेण 'व्यञ्जने' इति पदस्य परवर्तिकाले उपगमः न असम्भवः।

3.2.2. सारस्वतचन्द्रिकाकारेण स्पष्टमेव उल्लिखितं यत्, कौमारैः अवसाने अपि अनुस्वार इष्यते। अत्र असंशयं वक्तुं शक्यते यत्, चन्द्रिकाकारेण दृष्टे पाठे 'व्यञ्जने' इति पदं न भूतम्। कश्मीरस्य, वंगस्य च शाखा अनुसंधातृभिः किञ्चित् अन्वेषिता, किन्तु तैः इदानीं यावत् मध्यदेशीया, दक्षिणात्त्या, श्रीलंकीया वा शाखा न अन्वेषिता।

(3) अन्यद् अपि अस्ति किञ्चित् प्रमाणम्। 1.4.60 सूत्रे 'व्यञ्जने' इत्यस्य पदस्य अपाठेन 'मोऽनुस्वार'स्य प्राप्तिः स्वरे परे, व्यञ्जने परे, तथैव च अवसाने अपि भवेत्। सा तु अनुस्वारप्राप्तिः नित्या, न वैकल्पिकी। अतो हि अष्टाध्याय्याः प्रचलितव्याख्यानेन पाणिनिमतानुसारेण अवसाने नित्यं मकारः प्रयोक्तव्यः, किन्तु कातन्त्रमतेन अस्माकं कल्पनानुसारेण अवसाने नित्यम् अनुस्वारः एव प्रयोक्तव्यः। मन्ये, चन्द्रिकाकारेण द्वयमपि मतं दृष्टं, तेन पाणिनिमतमङ्गीकृतं, किन्तु कातन्त्रमतस्य अनुरोधेन अनुस्वारः

विकल्पितः। ध्यातव्यं यत्, चन्द्रिकाकारेण 'कौमारास्त्ववसानेऽपि अनुस्वारमिच्छन्ति' इत्येव लिख्यते, न तु कौमाराः विकल्पेन अनुस्वारमिच्छन्ति इति। अतः एतेन विवेचनेन 1.4.60 सूत्रे 'व्यञ्जने' इति पदस्य अपाठः तथा च कातन्त्रे, अवसाने नित्यं अनुस्वारस्य विधानं पुष्टं क्रियते। अतो हि प्रमाणिता अस्माकं कल्पना।

3.3.0. वैयाकरणानां विचारः—सारस्वतचन्द्रिकाकारेण कातन्त्रस्य यथोद्धृत-पाठस्य प्रकारान्तरेण एकेन अन्येन प्रमाणेन समर्थनं लभ्यते। अनुस्वारस्य विषयम् अधिकृत्य विभिन्नैः वैयाकरणैः कृता व्यवस्था निम्नप्रकारेण वर्गीकर्तुं शक्यते—

3.3.1. प्रचलितपाणिनीयमतेन, प्रचलितकातन्त्रमतेन, तथा च पाणिनेः सूत्राणां प्रचलितायाः व्याख्यायाः अनुसारेण च पदान्ते अनुस्वारेण नित्यमेव पंचमाक्षरत्वं प्राप्यते। तथैव च अवसाने 'म' कारस्य अनुस्वारत्वं न प्राप्यते। एवमेव स्वरे परे अपि पदान्तस्य मकारस्य संहितायाः अविवक्षायामपि अनुस्वारत्वं न प्राप्यते।

3.3.2. सारस्वतचन्द्रिकाकारेण उद्धृतं कातन्त्रमतम् अपदान्ते 'म' कारस्य नित्यं पंचमाक्षरं विधीयते। स्वरे परे पदान्तस्य 'म'कारस्य विषये चन्द्रिकाकारेण न किञ्चिदपि स्पष्टमुक्तम्। किन्तु मोऽनुस्वारं व्यञ्जने 1.4.60 (सैनीसंस्करणम्) सूत्रे 'व्यञ्जने' इति पदस्य अननुवृत्या स्वरे परे अपदांतस्य 'म' कारस्य अपि विकल्पेन अनुस्वारः स्यात्।

3.3.3. सारस्वतचन्द्रिका-मतेन अपदान्ते अनुस्वारस्य विकल्पेन प्राप्तिः। तथैव च अवसाने अपि मकारस्य विकल्पेन अनुस्वारः प्राप्यते।

प्राप्तेषु हस्तलेखेषु का स्थितिः इति अत्र निदर्शयितव्या। मुद्रितेषु संस्करणेषु अनुस्वारस्य, पञ्चमाक्षरस्य वा पाठान्तरं न दीयते। अतः अस्माभिः काशिराजन्यासस्य पुराणविभागे प्रवर्तमानात् 'गरुडपुराणस्य' पाठमेलनात् हस्तलेखानां स्थितिं स्पष्टीकर्तुं डॉ. गङ्गासागररायमहोदयः अनुरुद्धः। महानुभावेन उदाहरणरूपेण गरुडपुराणस्य 201 अध्यायस्य पाठस्थितिः विज्ञापिता। तत्र चत्वारः नेवारिलिपि-हस्तलेखाः, चत्वारः वंगीयाः, दश तु देवनागरीयाः, एकः तु तेलुगुलिपीयः च, इत्येते हस्तलेखाः पाठसंग्रहाय प्रयुक्ताः। तेषु हस्तलेखेषु अपदांतस्य पञ्चमाक्षरस्य कानिचित् उदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते—

श्लो. 8 'कण्डु'— ने. 1, 2, बं. 2, 4, दे. 9।

श्लो. 10c 'पिण्डिका' ने. 1, 2, 3, 4 बं. 2, 4, दे. 9, 5।

श्लो. 10d 'सैन्धव' बं. 1

एवमेव अन्यत्र अपि ज्ञातव्यम्। स्पष्टं हि यद् एकोनविंशतेः हस्तलेखानां नवसु हस्तलेखेषु एव पञ्चमाक्षरं प्रयुज्यते। अतोऽत्र अपि अव्यवस्था दृश्यते।

3.4.0. हस्तलेखेषु अनुस्वारः—इदानीं तावद् अवसाने अनुस्वारस्य प्रयोगाणाम् उदाहरणानि अपि द्रष्टव्यानि। उपरिष्टाद् उक्तयां तालिकायाम् उल्लिखितेषु एव हस्तलेखेषु अवसाने 'म'कारः दृश्यते। अनुल्लिखितेषु अपि अनुस्वारः एव ज्ञेयः।

अध्यायः – 201	द्वितीयचरणः	चतुर्थचरणः
श्लोक संख्या – 6	–	ने. 1, 4, दे. 9 ('म' कारः)
7	–	ने. 4
8	– 0 (सर्वत्र अनुस्वारः)	ने.–1, 4
10	– 0 (सर्वत्र अनुस्वारः)	0 (षट्चरणात्मकः अयं श्लोकः)
12	– ने–1	–
14	ने–1, 4, दे (जम्मू)1	–
20	–	ने.–1, 3, 4
23	–	ने.–1, 4
26	–	ने.–1, 4
27	ने–1, 4	–
28	ने.–1, 4	–
37	ने.–1, 3	–
38	ने.–1, 3	–

स्पष्टं च तालिकातः यद् अपदान्ते पञ्चमाक्षरस्य प्रयोगापेक्षया अवसाने मकारस्य प्रयोगाणां क्षेत्रं विस्तृततरम्। वंगीयेषु हस्तलेखेषु पञ्चमाक्षरस्य प्रवृत्तिः दृश्यते, किन्तु न दृश्यते अवसाने 'म'कारस्य प्रयोगस्य। सम्भवतरं हि अत्र अनुमानं यत्, तैः सारस्वचन्द्रिकाकारेण उद्धृतं कातन्त्रमतमेव अनुसृतं, न तु प्रचलितं कातन्त्रमतं, पाणिनीयमतं वा। एवं हि एते हस्तलेखाः पूर्वोक्तेषु त्रिषु मतेषु द्वितीयवर्गे एव अन्तर्भावनीयाः। प्रायेण देवनागरीयाः हस्तलेखाः, तेलुगुहस्तलेखाश्च सारस्वचन्द्रिकायाः मतमेव अनुसरन्तः प्रतीयन्ते। एवं हि ते तृतीयवर्गे समावेश्याः। केवलं त्रयः एव नेवारि-हस्तलेखाः पाणिनीयमतं अनुसरन्तः प्रथमवर्गे समावेश्याः। अस्माभिः दृष्टेषु गरुडपुराणव्यतिरिक्तेषु विभिन्नविषयकेषु हस्तलेखेषु अपि प्रायेण ईदृशी एव स्थितिः। एवं हि वक्तुं शक्यते यत् प्रयोगव्यवहारतः पाणिनीयमतं तथा च प्रचलितं कातन्त्रमतं भारतवर्षे 10% एव प्रचलितं, सारस्वतचन्द्रिकायामुद्धृतं प्राचीनं कातन्त्रमतं प्रायेण 20% प्रचलितं दृश्यते, सारस्वतचन्द्रिकामतं तु 70% अनुसृतमिति अनुमीयते। सारस्वतचन्द्रिकाकारेण तु विकल्पेन प्राचीनं कातन्त्रमतमपि स्वीकृतमेव। अतो हि

सारस्वतचन्द्रिकामतस्य एव 90% प्रयोगः दृश्यते। पाणिनीयाः तु अल्पसंख्यकाः एव पुराकाले आसन्। तस्य प्रचलनं तु अपेक्षाकृतं नवीनमेव।

प्रायेण लोकैः मन्यते यद्, हस्तलेखेषु अनुस्वारस्य भूरिशः प्रयोगा लिपिकाराणाम् अज्ञानाद् जाताः। लिपिकाराः प्रायेण मूर्खाः इति तु सामान्या धारणा लोकानाम्। एतद् अधिकृत्य अस्ति अस्माकं किञ्चिद् वक्तव्यम्–

3.4.1 न हि सर्वे लिपिकाराः मूर्खाः। बहुभिः लिपिकारैः लिपिकालः ललितैः श्लोकैः निबद्धः। यथा हि 'प्रेमरामायणस्य' अयोध्याकाण्डे '... दले लिलेख सुन्दरं, तुलाभिधः द्विजः स्वयम्।।' इत्यादिकं लिखितम्।

3.4.2. बहुधा विद्वद्भिः अपि आर्षग्रन्थानां प्रतिलिपिः क्रियते स्म। यथा हि तुलसिदासेन वाल्मीकीयरामायणस्य, काशिराजसरस्वतीभंडारे स्थितः हस्तलेखः। विद्यापतिठक्कुरेण तस्य भ्रात्रा वा श्रीमद्भागवतस्य दरभंगाराजपुस्तकालये संरक्षितः हस्तलेखः। तुलसीसाहित्यमर्मज्ञेन श्रीवदनपाठकेन, तथा च श्रीरामगुलामद्विवेदिना रामचरितमानसस्य काशिराजस्य सरस्वतीभण्डारे स्थितौ हस्तलेखौ। एभिः विद्वद्भिः कृतानां प्रतिलिपीनां, मूर्खैः अपि कृतेषु अवान्तरप्रतिलिपिषु, तैः मूर्खैः 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' न्यायेन मूल–आदर्शस्य एव शैली अनुस्रियते स्म। इत्येव सहजेन अनुमेयम्। अतः सर्वे हस्तलेखाः मूर्खैः लिखिताः, अत एव अशुद्धा इति धारणा न समीचीनाः।

3.4.3. प्रायेण लिपिकाराः ब्राह्मणाः, कायस्थाः वा भवन्ति स्म। ब्राह्मणेषु लिपिकारेषु तु संस्कृतभाषायाः सर्वथा अज्ञानम् अनुमातुम् असांप्रतम्। कायस्थानामपि न्यूनाधिकमेव सा स्थितिः। उत्तरप्रदेशादिषु तु राजकार्येषु लेखनादिषु च कायस्थानां नियुक्तेः परंपरा सुप्राचीना। मन्ये, सा परंपरा स्मृतिग्रंथेषु, धर्मशास्त्रीयेषु निबंधग्रन्थेषु अपि मान्यीकृता। अतो हि तेषां कायस्थानां संस्कृतभाषायां प्रवेशः स्वभावसिद्धः एव। तैस्तु मुसल्मीन्शासने प्रयोगाय पारसीभाषा अपि सु तराम् आयत्तीकृता। तस्यां ललितकाव्यग्रंथस्य रचना अपि कृता। कथं वा न तैः स्वदेशीया संस्कृतभाषा आयत्तीकृता भवेत्। किं बहूक्तेन, प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्, गहडवालशासकस्य चंद्रदेवस्य अयोध्याविषयकः विख्यातः ताम्रलेखः केनचित् कायस्थेन विदुषा एव विरचितः। द्रष्टव्यम् एतस्मिन् विषये 'पुराणम्' पत्रिकायाम् (Vol. XXXIII., No.2 अंके पृ. 217–225.) डॉ. जाह्नवीशेखररायेण लिखितः ताम्रलेखस्य पाठः लेखः लेखान्ते तत्र इमौ श्लोकौ।

1.35 द्विजवरनतिरक्तः शुद्धकायस्थवंश्यो
हृदयधरसमाख्यः श्रीशिवस्तंभसूनुः।
अलिखदखिलवर्णव्यक्तपंक्तिप्रशस्यं
नवकिश(स) लयकान्तं ताम्रे (प्रमे) तद्वि (द्विद्व) जानाम्।।

1.36 किं तस्य चन्द्रनृपतेर्व्वत वर्णु(र्ण) यामो
यस्य द्विजेन्द्रसुरशासनताम्रपट्टैः।
उत्कीर्यमाणनिविडाक्षरपंक्तिजाल-
वाचालितैर्व्वधिरभावमियाय विश्वम्। द्रष्टव्यम् पृ. 117-225

3.4.4. कामं वा भूयतां हस्तलेखलेखकैः मूर्खैः, किन्तु न हि ते मूर्खाः, येषां कृते ते हस्तलेखाः लिखिताः, तैः च पठनपाठने अपि प्रयुक्ताः। स्पष्टं हि यत् शंकराचार्य-वाचस्पतिमिश्र-मधुसूदनसरस्वती-जगन्नाथ-प्रभृतिभिः एते एव हस्तलेखाः सर्वदा प्रयुज्यन्ते स्म। एते एव हस्तलेखाः कवीन्द्राचार्यादीनां विदुषां पुस्तकालयेषु संरक्षिताः। प्रयुक्ताश्च बहुधा राजभिः महाराजैः च पुष्कल-द्रव्यदानेन। स्वर्णाक्षरेषु अपि एते हस्तलेखाः निबंधिताः दृश्यन्ते। तेषु अपि ईदृशाः एव पाठाः दृश्यन्ते। सुशक्यं भूतं विदुषां ब्राह्मणानां हस्तलिपिकरणे नियोजनं तेषां राज्ञां कृते।

3.4.5. दृश्यन्ते खलु हस्तलेखेषु लिपिकाराणाम् अज्ञानात् पाठान्तराणि, किन्तु तस्माद् अपि भूरिशः दृश्यन्ते तेषां व्याकरणज्ञानात् कृताः संशोधनजन्याः अपपाठाः, इति तु सर्वेषां पाठवैज्ञानिकानाम् अनुभवः। लिपिकाराणामज्ञानाद् अपि अधिकं पीडाकरं ज्ञानम् एव जातम्। इत्यहो महती विडम्बना हस्तलेखपरम्परायाम्।

3.4.6. पणिनीय-अपाणिनीयप्रयोगयोः प्रायेण पाठवैज्ञानिकैः अपाणिनीयः प्रयोगः एव प्राचीनतरः मन्यते। अतो हि उपरि विवेचनेन स्पष्टं यद् अपाणिनीयाः अनुस्वार-आदिप्रयोगात्मिका हस्तलेखेषु दृश्यमाना शैली न हि अज्ञानकृता। सा तु बहुषु शताब्दीषु विद्वद्भिः, राजभिः च अङ्गीकृता सारल्याद् इति मन्ये। सा अद्यापि अनुसर्तव्या अस्माभिः।

3.4.7. एका अन्या अपि समस्या अत्र उन्नेया। संस्कृतग्रन्थानां मुद्रणस्य प्रचलितशैल्यामेका अन्या अपि शङ्का जायते। विचार्यतां तावद् अयं श्लोकः-

ततो राक्षससैन्यं च हरीणां च महद्बलम्।
प्रगृहीतप्रहरणं निश्चेष्टं समतिष्ठत।। —रा. बड़ौदा संस्करणम् - 6.95.2

अत्र सम्पादकैः द्वितीयचरणान्ते मकारः प्रयुक्तः, किन्तु तृतीयान्ते न प्रयुक्तः मकारः। द्वितीयतृतीयचरणयोः को वा विशेषः इति जिज्ञासमानाः वयम्। व्याकरणशास्त्रीया, छन्दश्शास्त्रीया वा व्यवस्था? प्रकाशीक्रियतां तत्र भवद्भिः। ननु द्वितीयचरणान्ते हस्तलेखेषु एकः दण्डः लिख्यते, अतो हि तत्र अवसानं ज्ञेयम्। एवं च 'म' कारस्य न अनुस्वारप्राप्तिः, तृतीयचरणान्ते तु दण्डाभावात् न अवसानम्। एवं तत्र **'मोऽनुस्वारं हलि'** इति सूत्रेण अनुस्वारस्य प्राप्तिः इति। किन्तु अयं भोः! विषमः तर्कविन्यासः, को वायं लिपिशैल्याः विशेषः। अस्माभिः तु द्वितीयतृतीयचरणयोः न कोऽपि भेदः अनुमातुं शक्यते। चतुर्थे चरणे भेदस्य कल्पना सम्भवा, श्लोकस्य

अवसानात्, वाक्यस्य च अवसानात्। किन्तु अत्र अपि प्रष्टव्यं यत्, युग्मकेषु, कुलकेषु, एकान्वयिश्लोकेषु वा किं करणीयम्? तत्र चतुर्थपादान्ते 'म'कारः, अनुस्वारः वा ध्रियेत। वाक्यस्य अपूर्णत्वात् तत्र विरामः न कल्पनीयः, कामं वा भवतु प्रथमद्वितीयश्लोकयोः मध्ये उच्चारणकालव्यवधानम्। अतो हि निम्नलिखिताः कल्पाः प्राप्यन्ते।

(क) श्लोकस्य चतुर्षु अपि पादान्तेषु अनुस्वारः एव प्रयोक्तव्यः, यो हि सारस्वतचन्द्रिकया प्राचीनकातन्त्रमतेन तथा च अस्माभिः प्रस्तावितपाणिनीयव्याख्यया (मोऽनुस्वारः हलि ...) च समर्थितः।

(ख) अथवा, चतुर्षु अपि चरणेषु मकारस्य प्रयोगः कर्त्तव्यः।

(ग) द्वितीये, चतुर्थे च चरणान्ते मकारः, अन्ययोः द्वयोः अनुस्वारः प्रयोक्तव्यः वा, किन्तु तृतीयपक्षस्य समाश्रयणे, कुलकेषु, एकान्वयिश्लोकेषु वा चरणान्तस्य व्यवस्था समाधेया। वयं तु मानवपरंपरायाः अनुवर्तकाः। उक्तं च मनुस्मृतौ–

येनास्य पितरो याताः येन याताः पितामहाः।
तेनैव च सतां मार्गः तेन गच्छन् न रिष्यते।। – मनुः

अतः अस्माभिः प्राचीनहस्तलेखपरंपरामनुसृत्य प्रथमः एव पक्षः अवलंबितः। स एव राजमार्गः निर्दोषः, असंशयः, प्रशस्तश्च। तद् व्यतिरिक्तं मार्गान्तरमवलंबितुकामैः अस्माभिः उत्क्षिप्तानां प्रश्नानामुत्तरं प्रदातव्यम्। तदा एव प्रचलितायाः शैल्याः अन्यायाः अपि कस्याश्चिद् शैल्याः प्रयोगः अवलंबनीयः? अयं हि सर्वैः संस्कृतप्रेमिजनैः सुविचार्य वक्तव्यः।

अस्माभिः 3.4.0.अनुच्छेदे एव हस्तलेखानाम् अनुस्वारप्रयोगस्य तालिका उद्धृता। तथापि अवधेयं यद् अष्टमे श्लोके हस्तलेखेषु चतुर्थचरणाद् द्वितीयचरणस्य विभेदः क्रियते। चतुर्थचरणे मकारस्य प्रयोगः दृश्यते, न दृश्यते किन्तु द्वितीये। तद् एवं समर्थितं भवति दशमस्य श्लोकस्य विंशतितमस्य श्लोकस्य च द्वितीयचरणस्य पाठेन। न तत्र कैश्चिद् अपि हस्तलेखकैः (यैः मकारस्य प्रयोगः क्रियते तैः अपि) मकारः प्रयुज्यते, अपितु अनुस्वारः एव। एतेन प्रचलिता शैली नितराम् अपास्ता, मन्ये, सा सर्वथा शास्त्रविरुद्धा अपि।

3.5.0. भाषायाः द्वैविध्यम्— संस्कृतभाषायाः द्वे शैल्यौ पुराकाले प्रचलिते आस्ताम्–लौकिकी, ब्राह्मणीया च। यथा हि वाल्मीकीये–

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।।

... ...

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।

(रा. बड़ौदा सं., 5.28. 17cd, 18) स्पष्टं चात्र द्विविधः संस्कृतभाषाप्रयोगः। अत्र कैश्चित्तु मन्यते यद्, द्वयोःभाषयोः प्रयोगः रामायणे विवक्षितः आसीत्। तत्र हनुमता किन्तु संस्कृतभाषां परित्यज्य स्वदेशीयभाषायाः, प्राकृतस्य वा, प्रयोगः अवलंबितः। तच्चिन्त्यम्। मन्ये, कुत्रापि रामायणे संस्कृतव्यतिरिक्तायाः कस्याश्चिद् अपि भाषायाः प्रयोगः न उक्तः। अत्र वाल्मीकेः शब्दैः एव तस्मिन् काले पूर्वोक्तः संस्कृतभाषायाः द्विधा वित्तः भेदः ।

उपर्युक्तस्य लौकिकसंस्कृतस्य किं स्वरूपम् इति तु अनुमानस्य विषयः। स्पष्टं हीदं यत्, सा भाषा ब्राह्मणीयसंस्कृताद् अवश्यं हि सरलतरा भूता स्यात्। मन्ये, अनुस्वारस्य प्रयोगः स्वसारल्येन लौकिकसंस्कृतस्य अंगभूतः। एतस्य सारल्यं तु सर्वविदितं, प्रत्यक्षसिद्धं। पाणिनीयेतरेषु सरलतरव्याकरणेषु दर्शनात् च सुपुष्टम् अपि भवति। तथा हि अनुमातुं शक्यं यत् पञ्चमाक्षरस्य स्थाने अनुस्वारप्रयोगस्य, अवसाने च अनुस्वारप्रयोगस्य अपि, प्रचलनं निश्चयं खलु लौकिकसंस्कृते भूतम् (द्र. असन्धिप्रयोगः 3.7.0 अनुच्छेदः)।

3.5.1 उत्क्षिप्यते अत्र प्रश्नः, कथम् एतत् लौकिकं संस्कृतं विलुप्तिं गतम्। अत्र किञ्चिद् अनुमीयते। स्वभाविकं यद् लोकोपदेशाय प्रवृत्तैः बौद्धैः लौकिकसंस्कृतमेव अवलंबितमासीत्। दृश्यते अपि सुप्राचीनेषु बौद्धसंस्कृतग्रन्थेषु अनुस्वारस्य एव प्रयोगः। अशोककालिकेषु परवर्तिषु च शिलालेखेषु अपि पालिभाषायाः कृते अनुस्वारशैली एव अव्यवहितरूपेण प्रयुज्यते स्म। अत एव इयं शैली बौद्धैः अपि गृहीता इति निर्विवादम्। परवर्तिकाले बौद्धधर्मं प्रति ब्राह्मणधर्मस्य प्रतिक्रियायाः युगं प्रवर्तितम् आसीत्। द्वयोः परम्परायोः संघर्षः सुप्रसिद्धः अस्ति। मन्ये, बौद्धैः आश्रितमिति कृत्वा सुशुद्धः प्राचीनः, सर्वैः आर्यसमाजैः स्वीकृतः अपि लौकिकसंस्कृतस्य प्रयोगः परवर्तिब्राह्मणधर्मस्य नवोदयकाले वैदिकैः परित्यक्तः। तत्र 'यद्बौद्धैः स्पृष्टं तद्भ्रष्टम्' इति सुप्राचीनः, सुष्ठुप्रयोगः, सम्मानवाचकः अपि परवर्तिब्राह्मणवैयाकरणैः परित्यक्तः, मूर्खार्थे वा प्रयुक्तः इति तु सार्वजनीनं सत्यम्।

3.5.2 अत्र पुनः इदमपि स्मर्तव्यम् यत् संस्कृतव्याकरणपरंपरा अपि द्विधा, भिन्ना च। एका तु परम्परा ऐन्द्र–काशकृत्स्न–कौमार–कालाप–कातन्त्रपरिलक्षितः सम्प्रदायः, अन्या तु त्रिमुनि–(पाणिनिकात्यायनपतञ्जलि) व्याकरणसम्प्रदायः। उभयः अपि सम्प्रदायः प्राचीनः। किन्तु ऐन्द्रकातन्त्रसम्प्रदायस्तु पाणिनेः पूर्ववर्ती। अतः स्वयं तु यथोपलब्धं कातन्त्रं कामं वा पाणिनेः पूर्ववर्ति, परवर्ति वा स्यात्, किन्तु परंपरातः तस्य पाणिनेः प्राचीनत्वं सिद्धमेव। पुनश्च कातन्त्रतन्त्रं विशुद्धरूपेण लौकिकभाषायाः व्याकरणम्। प्राकृतादिभाषाभाषिणां कृते संस्कृतज्ञानाय उपयोगितरम्। सामान्यजनैः, शासनतन्त्रे नियुक्तैः लोकैः, विविधेषु च व्यापारेषु व्यापृतैः सहजमेव अल्पकालेन बोधगम्यम्। देशीयभाषाणां व्याकरणेषु च एतस्य प्रभावः सुपरिलक्षितः (द्र.

डॉ.रामसागरमिश्रसंपादितं कातन्त्रव्याकरणं, शिष्यहितान्याससहितं, प्रथमसंस्करणम् 1989 ई.)।

3.5.3. उपर्युक्तेन अनुमातुं शक्यं यत् कातन्त्रपरंपरायां लौकिकसंस्कृतस्यैव शैली अधिकतरं संरक्षिता। पाणिनिपरंपरायां लौकिकवैदिकयोः उभयोः अपि शैल्योः समन्वयः। मन्ये, तत्र पूर्वोक्तायाः ब्राह्मणसंस्कृतशैल्याः एव प्राधान्यम्। इयमेव परंपरा ब्राह्मणवादस्य पुनरुत्थानकाले पुष्यमित्रादीनां शासने पतञ्जलिना महाभाष्येण सुप्रतिष्ठिता। मन्ये तत् पूर्वं लौकिकं संस्कृतमेव राज्यकार्येषु प्रयुज्यते स्म। ब्राह्मणवादस्य पुनरुत्थानकाले एतेषु कार्येषु ब्राह्मणसंस्कृतमेव प्रयुक्तं भूतं। मन्ये 'अभिज्ञानशाकुन्तलस्य' भरतवाक्ये ब्राह्मणसंस्कृतस्य नवप्रतिष्ठा अपि ध्वनिता– 'सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्' 'सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताद्वा।' गुप्तकालपर्यन्तमियं पुनः उत्थानवादिनी धारा अप्रतिहतं प्रवाहिता। एतस्य युगस्य शिलालेखेषु पञ्चमाक्षरादिभिः युक्ता संस्कृतभाषा दृश्यते। एतस्य एव प्रभावेण मन्ये, कातन्त्रादिशास्त्राणि लोकप्रयुक्तानि अपि विदुषां मध्ये न्यूनतां गतानि।

3.5.4. एतस्य अन्योऽपि एकः दुष्परिणामः फलीभूतः। राज्यकार्यादिषु प्रवर्तमाने ब्राह्मणसंस्कृते लौकिकसंस्कृतं तु सत्यमेव अस्तंगतम्, किन्तु सन्धिसमाससमृद्धा, स्वभावजटिला, लोकव्यवहारे नितराम् अनुपयुक्ता ब्राह्मणसंस्कृतशैली न चिरं प्रचलितुं शक्ता। नष्टे लौकिकसंस्कृते एकतः विद्वत्सु मध्ये ब्राह्मणसंस्कृतं प्रतिष्ठां गतम्, अन्यतस्तु लोकेषु लोकभाषाणां प्रचारः भृशं सुपल्लवितः। किन्तु द्वयोः मध्ये सेतुभूता, लोकानां, विद्वद्वतां च योगदण्डं लौकिकसंस्कृतं नाम चिराय विस्मृतं, लुप्तं च। एतस्य एव परिणामरूपेण लौकिकसंस्कृते निबद्धानां रामायणादिग्रन्थानां ब्राह्मणसंस्कृते, पुनः लेखनं घटितम्। इदं संशोधनं विभिन्नेषु प्रदेशेषु स्वतन्त्ररूपेण कृतम्, तेनैव बहूनि नवानि पाठान्तराणि जातानि, इदं हि 'पुराणविभागस्य रामायण–अध्ययनशालायाः' मतम्। मन्ये, रामायणस्य भाषायाः अयमेव नवसंस्कारः अस्मिन् (प्रक्षिप्ते) श्लोके ध्वनितः–

'तदुपगतसमाससन्धियोगं, समधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम्।।'

(रा.चौ. सं. III, 1982) मन्ये, भाषासंस्कारात् परमेव इदं प्रक्षिप्तं रामायणपाठे समाहितम् अत्र। 'उपगत' शब्दः अपि विचारणीयः। टीकाकारैः न सम्यग् विवेचितम्। 'उपगत' पदेन स्पष्टं ध्वन्यते यद् अयं सन्धिसमासयोगः ब्राह्मणीयसंस्कृताद् एव आनीतः।

3.5.5. ब्राह्मणसंस्कृतं तु लौकिकसंस्कृतस्य विनाशे समर्थम् अपि चिरमात्मानम् एव रक्षितुं न शशाक। गुप्तकालात् परं संस्कृतभाषायाः स्वरूपे पुनरपि अनुस्वारादिकस्य प्रयोगे लौकिकपरम्परायाः पुनर्भावो दृश्यते। यो हि 'गहडवाल'कालिकेषु (1000–

1200 ईस्वी) शिलालेखेषु दृश्यते। मध्यकालिकेषु हस्तलेखेषु तु लेखनस्य प्राचीना लौकिकसंस्कृतपरम्परा ब्राह्मणसंस्कृतेनापि नाशयितुं न शक्या अभूत्।

3.5.6. नरसिंहपुराणस्य अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः संपादने प्रवृत्तानाम् अस्माकं पुरः अनुस्वारशैल्याः ग्रहणस्य, अग्रहणस्य वा, समस्या अन्वीयते। हन्त! न केनचिद् आधुनिकेन वैज्ञानिकम्मन्यमानेन संपादकेन इयं समस्या विचारिता। सर्वैः अपि प्रचलिता शैली एव गड्डलिकाप्रवाहन्यायेन अवलम्बिता। सर्वेषां हस्तलेखानां हस्तलेखसाक्ष्यबाहुल्यस्य एतावती उपेक्षा कथमपि वैज्ञानिकसम्पादनस्य क्षेत्रे न न्याय्या। एतद् विषये अस्माभिः एते विचाराः प्रस्तूयन्ते–

(क) वैदिकेषु उपनिषदादिषु, द्विजातीनामेव उपयोगिषु ग्रन्थेषु ब्राह्मणशैल्याः अवलम्बनं श्रेयस्करं स्यात्।

(ख) इतिहास–पुराण–आख्यायिकादिषु, ग्रन्थेषु का शैली अवलम्बनीया इति तु विचारविषयः। पुराणेतिहासादि–ग्रन्थानां कृते सरलतर–लौकिकसंस्कृतस्य अंगीभूता अनुस्वारशैली एव श्रेष्ठा।

(ग) ब्राह्मणधर्मस्य नवोदयकाले निर्मितेषु कालिदासादीनां ग्रन्थेषु तु भवेत् नाम ब्राह्मणशैल्याः एव प्रयोगः सम्भवः। किन्तु मध्यकाले तु ब्राह्मणीयं संस्कृतं तथा प्रभावपूर्णं नाभूत्।

(घ) उपर्युक्ताः सर्वे अपि नियमाः हस्तलेख–साक्ष्यस्य गौरवाधीनाः। हस्तलेखानां देशान्तरविभागैः, शाखाविभागैः च, विवेचनं कृत्वा पाठवैज्ञानिकसिद्धान्तैः सह अनुस्वारस्य विषये अपि निर्णयः कार्यः।

3.6.0. व्यञ्जनद्वित्वम्—अस्तु, तावद् अनुस्वारसमस्या निवृत्ता। अथ प्रवर्त्यताम् अत्र व्यञ्जनानां द्वित्वविचारः। अचो रहाभ्यां द्वे (पा. 8–4–46) इति सूत्रेण केषांचिद् व्यञ्जनवर्णानां द्वित्वं परिस्थितिविशेषेषु विकल्पेन प्राप्यते। आधुनिकैः संपादकैः, पाठविज्ञानसमीक्षकैः च, सर्वैः अपि अद्वित्वपाठः एव ग्रन्थेषु ध्रियते। न हि तेन एतद्विषयकः कोऽपि विमर्शः क्रियते। बहुषु हस्तलेखेषु द्वित्वपाठः खलु दृश्यते, किन्तु, न किञ्चिद् विचारयद्भिः आधुनिकैः सम्पादकैः तत् सर्वम् अपि हस्तलेखसाक्ष्यम् उपेक्ष्य अद्वित्वः एव पाठः अंगीक्रियते। उचितं हि अत्रापि पाठवैज्ञानिकः विचारः। अस्माभिस्तु अनुमीयते यद्, द्वित्वस्य, अद्वित्वस्य वा, देशविशेषानुसारेण उच्चारणभेदः। मन्ये, द्वित्व–उच्चारणं प्राच्यप्रदेशेषु काशिकोशलपर्यन्तेषु प्रचलितम्। गुप्तवंशीयानां राज्ञां शिलालेखे, काशिकोशलवासिनां गहरवारीयराज्ञां च शिलालेखेषु व्यञ्जनद्वित्वं भूरिशः दृश्यते। अन्यप्रदेशानां विषये न हि दृढं वक्तुं शक्यते अस्माभिः। काशिकोशलप्रदेशेषु इदानींतनं द्वित्व–उच्चारणं न श्रूयते, किन्तु, एतेषां प्रदेशानां प्राचीनेषु हस्तलेखेषु व्यञ्जनद्वित्वस्य बाहुल्यं दृश्यते। अत्र द्वौ पक्षौ ऊह्यौ। तत्र–

3.6.1. प्रथमपक्षः, द्वित्व-उच्चारणमेव प्राचीनम्। किन्तु काशिप्रदेशेषु उत्तरमध्ययुगे दाक्षिणात्त्यवैयाकरणानां प्रभावेण इदम् उच्चारणमस्तंगतम्। आधुनिकमुद्रणयन्त्राणां, विशेषतः मुम्बईमुद्रणयन्त्रस्य परम्परा अपि एतस्य सहायिका भूता। पाश्चात्त्यविद्वद्भिः अपि स्वोच्चारणसौकर्येण अद्वित्वोच्चारणम् एव अवलंबितम् तथैव अद्वित्वपाठः अपि पोषितः। इदानींतनैः वैज्ञानिकसंपादकैः तु गड्डलिकाप्रवाहेण सा एव परम्परा अनुसृता। परिणामतः काश्यादिप्रदेशेषु अपि अद्वित्व-उच्चारणमेव प्रचलितं दृश्यते।

3.6.2. द्वितीयपक्षः, काशिकोशलप्रदेशेषु अद्वित्वमेव उच्चारणं सनातनम्। पूर्वमध्ययुगे वंगीय-पालवंशस्य प्रभुत्वेन द्वित्व-उच्चारणं प्रचलने गतम्। नष्टे तु पालशासने, काशिकोशलप्रदेशस्य सहजमद्वित्वमुच्चारणं पुनः प्रचलनं गतम्। एतयोः द्वयोः कः पक्षः वरीयान् इति तु विद्वद्भिः भाषावैज्ञानिकैः च विम्रष्टव्यम्। उल्लेखनीयं हि अत्र यद्, 'पंचनामा' हस्तलेखे महाकविना तुलसिदासेन उद्धृतेषु संस्कृतश्लोकेषु द्वित्वपाठः एव दृश्यते। किन्तु, तेन स्वयमेव स्वमहाकाव्यस्य प्रत्येकं काण्डस्य (सोपानस्य) मंगलाचरणेषु अद्वित्वः पाठः एव प्रयुक्तः। तत् किं, तेन उद्धरणेषु प्राचीनहस्तलेखानां परम्परा अनुसृता, किन्तु स्वरचनासु तदानीन्तनं प्रचलितम् अद्वित्व-उच्चारणमेव अवलंबितम्? न हि असम्भवं यद्, तुलसिदासस्य काले एव द्वित्वम् उच्चारणं विलुप्तम्? तथा च हस्तलेखेषु एव सुरक्षितम्। किन्तु, अत्र वक्तव्यं यद् श्रीमतः तुलसिदासस्य रामायणस्य (रामचरितमानसस्य) संस्कृतश्लोकानां विषये इदानीं पर्यन्तं न यथावद् विवेचितं विद्वद्भिः। अस्ति तेषां प्रामाण्ये, पाठे च, किञ्चिद् सन्देहावकाशः। उपलब्धान् सर्वान् अपि रामचरितमानसस्य हस्तलेखान्, तथा च कृत्तिवासस्य वंगीयरामायणस्य सर्वानपि हस्तलेखान् दृष्ट्वा एव चरमः सिद्धान्तः निर्णेतव्यः। उल्लेखनीयं यद् रामचरितमानसस्य मंगलाचरणात्मकाः श्लोकाः कृत्तिवासीयरामायणे अपि दृश्यन्ते। न हि इदम् अनुसन्धानकार्यं कृतं केनचिद् हिन्दीभाषाभक्तेन, वंगीयभाषानुरागिणा वा।

3.6.3. ननु संस्कृतस्य द्विधा शैली प्रतिपादिता। तत्र लौकिकं संस्कृतं सारल्यप्रधानम्। तर्हि लौकिकसंस्कृते अद्वित्वशैली एव नियतं प्रयोक्तव्या, सारल्यत्वात्। अत्रोच्यते। सारल्यं खलु अभ्यासविषयः। अभ्यासस्तु मानुषाणां प्रवृत्तेः प्रकृतेः वा अधीनः। प्रवृत्तिः प्रकृतिः वा देशाधीना। अतो हि उक्तम् अस्माभिः, 'द्वित्व-उच्चारणं प्रदेशभेदेन' इति। न हि तत्र लौकिकस्य, ब्राह्मणीयस्य वा, संस्कृतस्य प्रश्नः। द्रष्टव्यं यद् उपर्युक्ते 'पंचनामा' हस्तलेखे श्रीमता तुलसिदासेन पंचमाक्षरस्य, अवसाने मकारस्य च स्थाने, अनुस्वारस्य एव प्रयोगः कृतः, किन्तु, व्यञ्जनद्वित्वं तु अवलम्बितमेव। अतो हि अनुस्वारेण व्यञ्जनद्वित्वस्य न कोऽपि विरोधः, न वा, द्वित्वप्रयोगेण भाषायाः काठिन्यम।

3.6.4. इदानीं प्रकृतम् अनुस्रियताम्। अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः संपादने व्यञ्जनद्वित्वम्, अद्वित्वं वा ग्राह्यम्? यथा उक्तम् अस्माभिः अत्र विविधः विचारः। ग्रन्थकारस्य निवासदेशः, हस्तलेखसाक्ष्यं च। निवास-देश-निर्णये तु अन्या अपि समस्या सम्मुखी भवति। नरसिंहपुराणस्य रचयिता एव किम् अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः अपि रचयिता? न चेद् अयोध्यातीर्थप्रशंसा प्रक्षिप्तांशः। अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः रचनाकारः कोऽपि कोशलजनपदीयः जनः, इति अस्य विषये पुरा एव किञ्चिद् विचारितम् (2.57)। न हि किन्तु, सम्प्रति दृढ़तरं वक्तुं शक्यम्। हस्तलेखसाक्ष्यविषये तु न केनचिद् अद्यावधि अन्वेषितम्। नरसिंहपुराणस्य येषु हस्तलेखेषु अयोध्यातीर्थप्रशंसा दृश्येत, तेषां देश-विचारेण अयोध्यातीर्थप्रशंसाकारस्य निवासप्रदेशः निर्धारयितुं शक्यते। एतत् तु विद्वद्भिः अवश्यं करणीयम्।

3.6.5. उपलब्धेषु हस्तलेखेषु द्वित्व-अद्वित्व-प्रयोगाणाम् आकलनेषु अपि पाठनिर्णयः सम्भवः। न हि किन्तु तेन एतद् विषये इदानीं यावत् प्रयत्तम्। तर्हि तावद् उपलब्धं किञ्चित्करं प्रमाणम् एव अवलम्ब्य निर्णेतव्यम्। R S हस्तलेखे सर्वत्र एव द्वित्वपाठः दृश्यते। निःसंशयम् एतयोः मूल-आदर्शे लेखे द्वित्वम् एवं वित्तम्। B हस्तलेखस्य पाठस्य उद्धरणानि डॉ. बाकरेण दत्तानि तेषु अद्वित्वप्रयोगः एव दृश्यते। मन्ये, B हस्तलेखे अद्वित्वप्रयोगः एव, नो चेद् डॉ. बाकरेण उद्धरणेषु द्वित्वपाठः उपेक्षितः। M कोशस्य पाठः तु मुद्रितग्रन्थाद् गृहीतः। प्रायेण आधुनिकैः संपादकैः मूलहस्तलेखपाठं संशोध्य अद्वित्वपाठः एव मुद्राप्यते। अतो न शक्यते वक्तुं मित्रमिश्रस्य हस्तलेखस्य स्थितिः। अस्माभिः पुरस्तात् प्रदर्शितं यद्, R S B हस्तलेखानां मूल-आदर्शेषु वंगीयलिप्याः प्रयोगः न असम्भवः। अत एव तेषां मूल-आदर्शस्य पाठे अपि द्वित्वप्रयोगः सम्भवतरः। एतत् सर्वं सुविचारयद्भिः अस्माभिः तात्कालिकरूपेण द्वित्व-उच्चारणम् एव स्वीकृतम्।

उपसंहरद्भिः अस्माभिः वक्तव्यं यत् तमसा-तटवासिनः प्राच्यकवेः वाल्मीकेः रामायणे उच्चारणाय व्यञ्जनद्वित्वं कथं न गृह्यते? तथैव च सरस्वतीतट-वासिनः प्रतीच्यकवेः व्यासस्य महाभारते अद्वित्व-उच्चारणमेव ग्राह्यम् किम्? एतत् सर्वं हस्तलेखसाक्ष्यैः निर्णेतव्यम्। हन्त! न इदं बड़ौदासंस्करणे, पूनासंस्करणे वा, सम्पादकैः विमृष्टम्।

3.6.6. संस्कृतभाषायाम् अन्यः अपि एकः प्रसङ्गः सकारद्वित्वस्य। अचो रहाभ्यां द्वे – (पा. 8-4-46) इति सूत्रेण तु साक्षादेव यरः द्वित्वम्, किन्तु, वा शरि (पा.8-3-36) इति सूत्रं न द्वित्वविधायकम्। तथापि तस्य सूत्रस्य प्रयोगेण पक्षे द्वयोः सकारयोः श्रवणं प्राप्यते एव। एवं प्रकारान्तरेण द्वित्वम् अत्र वक्तुं शक्यते। एतद् विषये अपि मन्ये, न केनचिद् वैज्ञानिकेन सम्पादकेन अद्यावधि विचारितम्। आधुनिककाले अस्य सूत्रस्य प्रयोगेण लब्धद्वित्वम् अपि पदं प्रायेण न हि प्रकाशितेषु ग्रन्थेषु दृश्यते। 'वा शरि' सूत्रस्य

प्रयोगः सम्प्रति व्याकरणपुस्तकानाम् एव धनम्। वस्तुतः पाठवैज्ञानिकैः एतस्य प्रयोगस्य विषये अपि हस्तलेखानां विमृष्टव्यम्।

3.6.7. अस्माभिः प्रयुक्तेषु हस्तलेखेषु 'वा शरि' सूत्रेण प्राप्तः द्वित्वपाठः न कुत्रापि दृश्यते। कतिपयेषु स्थलेषु केषुचित् हस्तलेखे 'ततस् स्नात्वा' ईदृशाः पाठाः दृश्यन्ते (श्लो. 13, R S B), तत्र मूल-आदर्शे पाठे 'ततस् स्नात्वा' इत्यस्य कल्पना संभाव्यते। किन्तु, 'ततः स्नात्वा' पाठेन अपि श्रुतलेखनजन्यप्रमादात् 'तत स्नात्वा' इति विकृतिः सिद्धा। यथा 'ततः सप्तर्षितीर्थं' (श्लोक 30) इत्यादिषु स्थलेषु न कापि विकृतिः दृश्यते। तर्हि मन्ये, 'तत स्नात्वा' इत्यत्र संयुक्ताक्षरस्थस्य सकारस्य हेतोः उच्चारणसाम्येन विकृतिः जाता। अतो हि अस्माभिः 'वा वारि' सूत्रेण प्राप्तः द्वित्वपाठः न कुत्रापि आश्रितः।

3.7.0. सन्धिविचारः– प्रायेण पाठसमीक्षाविद्भिः सम्पादकैः असन्धितपाठाः एव प्रमाणिकतराः, प्राचीनतराः च मन्यन्ते। किन्तु, तैः कश्चित् स्थितिविशेषः न सम्यग् विवेच्यते। तासामत्र परिगण्यन्ते–

3.7.1. हलन्तात् परः स्वरः।

3.7.2. अनुस्वारात् परः स्वरः।

3.7.3. समासे असन्धिः।

3.7.4. श्लोकानां सन्धिस्थलेषु सन्धिः।

अत्र क्रमेण एतेषां किञ्चिद् विचार्यते–

3.7.5. 'पद् + अत्र=पदत्र'। मन्ये, अत्रापि सन्धिविचारः कार्यः। असंहित-उच्चारणे तु 'पदत्र' पाठः कदापि न प्राप्यते। संहित-उच्चारणे एव 'पदत्र' इति भवेत्। द्वयोः पाठयोः भेदः प्रायेण लोकैः न क्रियते। किन्तु अस्ति हि महान् भेदः द्वयोः पाठयोः। संहितापक्षे तु 'पदत्र' इत्यस्य स्वरप्रस्तारः ISI इति भवेत्। यद्यपि छन्दःषु द्वयोः पाठयोः भिन्नं मात्राविधानं नास्ति, तथापि पाठनिर्धारणे एतस्य विचारः आवश्यकः। महाभारतस्य भण्डारकर-संस्करणे एतस्य एकं निदर्शनम् अत्र उद्ध्रियते (द्र. अनुच्छेदः 3.7.7.)। 'भगवता पाणिनिना अपि एतेषां स्थलानां कापि व्यवस्था न कृता, मन्ये, तत्र वर्णविकारादिकार्यस्य अभावः अत्राविचारस्य हेतुः। भगवता केवलं सन्धिजन्यवर्णविकारादिकार्याणि एव विचारितानि। मुग्धबोधव्याकरणकारेण तु एतद्विषयकः विचारः सन्धिप्रसङ्गे कृतः। अवश्यं खलु तेन तदानींतनेषु हस्तलेखेषु ईदृशान् पाठान् दृष्ट्वा तथा च छन्दःशास्त्रे एतस्य व्यावहारिकीम् उपयोगितां च मत्वा एव एतस्य विचारः अकारि। अस्ति किञ्चिद् विवेचनम् एतद् विषये सारस्वचन्द्रिकायाम् अपि स्वरसन्धिप्रकरणे। 'दध्यानय' इति प्रयोगस्य सिद्धिप्रसङ्गे, 'दद्धय् आनय' इति प्राप्ते चन्द्रिकायां लिख्यते,– 'स्वरहीनं परेण संयोज्यम्' श्लिष्टोच्चारणं कर्तव्यम् दध्यानय

इति। स्पष्टं च यत्, श्लिष्टोच्चारणं संहिताविषये एव सम्भवम्। चन्द्रिकाकारेण अपि इदं वाक्यं संहिताप्रसङ्गे एव विन्यस्तम्। अत एव **'स्वरहीनं परेण संयोज्यमित्येव सिद्धं भव्यम्।'** पाणिनिसूत्रे अपि प्रयोगान् साधयद्भिः विद्यार्थिभिः **'अज्झीनं परेण संयोज्यमिति'** नियमः प्रयुज्यते एव। स च महाभाष्ये अपि लिखित इति एतत् सर्वं संहिताविषयकम् एव नान्यथा।

3.7.6. सारस्वतचन्द्रिकायाः मुग्धबोधस्य च मतम् उपरि उक्तम्। वस्तुतस्तु उभयेन अपि कातन्त्रमेव अनुसृतम्। कातन्त्रस्य 'सन्धिवृत्तौ' इदं सूत्रं दृश्यते,– **'व्यञ्जनमस्वरं परं वर्णं नयेत्'** 1.1.22 (डॉ. रा.सा. मिश्र, संस्करणम्), इदमेव सूत्रं आर. यस. सैनी संपादिते संस्करणे ईदृशं पठ्यते,– **व्यञ्जनमस्वरे परं वर्णं नयेत्'** किन्तु अस्मिन् पाठे मुद्रणदोषः प्रतीयते। यतो हि, तत्र एव 'दुर्गवृत्तौ' ईदृशं व्याख्यानं दृश्यते– **'व्यञ्जनं परं वर्णं नयेत् न तु स्वरं, व्यञ्जनमन्वक्, स्वरः स्वयं राजते हि। तद् गच्छति, षडत्र। कः खनति कः फलति इति अयोगवाहत्वात् स्वरूपमेव।'**

'अस्वरे' इति पाठे 'षडत्र' इति उदाहरणं न प्रासङ्गिकम्। इदं सूत्रं किन्तु, सन्धिवृत्तौ पठितम्। अतएव एतस्य प्रवृत्तिः सन्धेः विवक्षायामेव। अविवक्षायां तु 'षड् अत्र' इत्यनेन भवितव्यम्। अंन्यद् अपि अत्र अवधेयं 'षडत्र' (जश्त्वम्) इत्यपि प्रयोगः सन्धिविवक्षायाम् एव भवेत्। असन्धिविवक्षायां तु 'षट् अत्र' इत्येव भवेत्। तथा हि अस्माभिः पूर्वे विचारिते 'पदत्र' इति प्रयोगे कातन्त्रस्य व्यवस्थया असन्धिविवक्षायां 'पद् अत्र' इत्येवं लिखितव्यमुच्चारयितव्यं च।

3.7.7. इयं तु उपरि चर्चितायाः स्थितेः एव स्वरूपविशेषः। अथ प्रश्नः 'रामम् अत्र' इत्यत्र उपर्युक्तेन विचारेण संहितापक्षे 'राममत्र' इति भवेत्। असंहितापक्षे तु 'रामम् अत्र' इत्येव शुद्धम्। अथ वा 'रामं अत्र' इत्येवं प्रयोक्तव्यम्। अस्माकं मते द्वितीयः एव पक्षः ज्यायान्। न हि अत्र विशेषेण विवादावकाशः। महाभारतस्य भंडारकरसंस्करणे मूलपाठरूपेण–**'कालपृष्ठ उपस्पृशेत् (3.83.11a)'** इत्येवं गृहीतम्। अयोध्यातीर्थ–प्रशंसायामपि **'तस्यां पुर्यां अनेकानि (4a)'** इति पाठः R S योः हस्तलेखे दृश्यते। M B कोशयोः पाठः अत्र अज्ञातः (द्र. मूलग्रन्थः, अयोध्यातीर्थप्रशंसा, श्लो. 4a इत्यस्य पाठान्तरम्)।

3.7.8. यत् सत्यम् उपर्युक्तस्थले महाभारतस्य भण्डारकरसंस्करणे ईदृशः पाठ गृहीतः, न किन्तु डॉ. सुक्थणकरेण, न वा केनचिद् अन्य–सम्पादकेन अस्मिन् विषये विस्तृतं विवेचितम्। विवचिते सति, मन्ये अनेकेषु बहुषु स्थलेषु, महाभारते एतादृशाः पाठाः अग्रहिष्यन्त। पुराणविभागस्य रामायण–अध्ययन–शालायाः मतेन तु रामायणस्य पाठोद्धारे एतादृशानि बहूनि पाठनिर्माणानि विधेयानि। यतो हि, परवर्तिलिपिकारैः, सन्धिप्रियैः पण्डितैश्च ईदृशाः पाठाः संशोधनेन विनष्टाः कृताः, किन्तु एतेषां ग्रहणे

व्याकरणेन अपि औचित्यविचारः कर्त्तव्यः। अस्माभिः अनुस्वारप्रसङ्गे किञ्चिद् विमर्शः कृतः। किन्तु अत्र अवधेयं यद्, सारस्वतचन्द्रिकायाः मतेनापि ईदृशः प्रयोगः न सिद्ध्यति। चन्द्रिकाकारेण अवसाने एव, पक्षे, अनुस्वारस्य विधानं कृतम्, न किन्तु तेन स्वरवर्णे परे किञ्चिद् उक्तम्। यदि चेद्, असन्धिपक्षे अवसानकार्यं स्वीक्रियेत, तर्हि चन्द्रिकाकारस्य मतेन एषः प्रयोगः सिद्ध्येत। अस्ति किन्तु अत्र वैमत्यावकाशः। अत्र उपायान्तरम् अपि अन्वेष्टव्यम्। मन्ये, पाणिनीयसूत्राणामेव सम्यक् मीमांसया एते प्रयोगाः साधनीयाः स्युः। अथ अत्र किञ्चित् स्फुटीक्रियते,–

3.7.9. मोऽनुस्वारः (पा. 8–3–23) सूत्रे व्याख्यातृभिः 'हलि' इति अनुवर्तितम्, न चेत् तद् अनुवर्त्येत तर्हि 'अचि' (स्वरवर्णे परे अपि) अनुस्वारस्य प्राप्तिः सुलभा स्यात्। एवं कृते ईदृशानां हलि परे अनुस्वारस्य प्रयोगाणां अनायासेन सिद्धिः। अन्यद् अपि अत्र अवधेयम्। मन्ये, 'मोऽनुस्वारः' इति सूत्रस्य पूर्ववर्तिसूत्रेषु 'हलि' इति तु अनुवर्तितं, किन्तु एतत् परवर्तिषु सूत्रेषु प्रचलितपाणिनीयसम्प्रदाये अपि न कुत्रापि 'हलि' इति अनुवर्तितम्। अतो हि 'मोऽनुस्वारः' इति सूत्रे अपि 'हलि' इत्यस्य अननुवर्तनं सर्वथा सम्भवतरं, न च अप्रासङ्गिकम्। इदं तु सूत्राणां प्राप्तिक्रमे एव पाठात् सम्भवं जातम्। अतएव विशिष्टक्रमे पाठस्य अवलंबनात् सूत्रकारेण स्वाभिप्रायः व्यञ्जितः 'हलि' इत्यस्य विकल्पेन अनुवर्तनमिति। ननु 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' इति परिभाषया पाणिनीयसूत्राणां व्याख्याने सम्प्रदायिकी व्याख्या एव प्रस्थापयितव्या। न हि खलु भवतां कल्पनावादस्य अत्र अवकाशः। अथोच्यते। पाणिनीयसम्प्रदाये एव अस्ति एका अन्या अपि प्रतिष्ठिता रीतिः, सा च शिष्टप्रयोगदर्शनेन तेषां साधनाय योगविभागस्य अनुवृत्तेः च। अतः अन्यथा व्यवस्था अपि अवश्यं करणीया। अतो हि महाभारत–पुराणादीनां शिष्टप्रयोगाणां साधुत्वप्रतिपादने अस्माकं कल्पना नैव उपेक्षणीया।

3.7.10. उपर्युक्तेन व्याख्यानेन न हि केवलम् अचि परे पूर्वम् अनुस्वारः सिद्ध्यति, अपितु अवसाने अपि मोऽनुस्वारस्य सिद्धिः जायते। एतत् कृते पूर्ववर्तीनि पाणिनीयेतराणि व्याकरणानि एव शरणीकृतानि। किन्तु, इदानीं पाणिनीयसूत्रैः अपि ते प्रयोगाः सिद्धाः, सहैव अन्येषां व्याकरणानां पाणिनीयव्याकरणेन अविरोधः अपि सम्पन्नः।

3.7.11. पाणिनीयसूत्राणां व्याख्यानप्रसङ्गे अपदान्ते अनुस्वारस्य अपञ्चमाक्षरस्य प्राप्तिविषये अपि किञ्चिद् विचार्यताम्। पूर्वन्तु ईदृशाः प्रयोगाः पाणिनीयेतरव्याकरणैः साधिताः। मन्ये, पाणिनीयसूत्राणामपि अन्यथा व्याख्यानेन सम्भवं तत्। 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (पा. 8–4–58) एतस्मात् परं 'वा पदान्तस्य' (पा. 8–4–59) इति सूत्रं पठ्यते। तत्र 'वा' 'पदान्तस्य' इति योगविभागेन अनुस्वारस्य परसवर्णता विकल्पेन विधातुं शक्या। पदान्ते तु सा वैकल्पिकी एव। अयं तु योगविभागः 'वा पदान्ते' इत्येवं

रूपेण सूत्रस्य पाठेन सम्भवः। न स सम्भवः स्यात् 'पदान्तस्य वा' इत्येवं रूपेण सूत्रपाठेन। अतएव 'पदान्तस्य वा' इति अपठित्वा 'वा पदान्तस्य' इति पठता भगवता व्यञ्जितं यद् अयं योगविभागः, पक्षे अपदान्ते परसवर्णस्य स्थाने अनुस्वारस्य प्रयोगश्च इष्टः तत्र-भवतः। ननु **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः**, एतस्मात् सूत्रात् पूर्वम् **'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः'** (पा. 8-4-47) इति सूत्रे 'वा' इति पदम् अनुवर्तितम्। **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** इत्यपि विधानं चेद् वैकल्पिकम् अभविष्यत् तर्हि परस्मिन् **'वा पदान्तस्य'** इति सूत्रे **'वा'** पाठःअनर्थकः जायेत। अतो हि 'वा पदान्तस्य' इत्यत्र 'वा' दर्शनात् नास्ति कापि संभावना **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** इति विधानस्य वैकल्पिकत्वे।

अत्र समाधीयते। भगवतः पाणिनेः अनुस्वारस्य परसवर्णस्य नित्यता अभिप्रेता एवेति सत्यम्। किन्तु, अस्माभिः उच्यते यद् एतद्विषये भगवता वैयाकरणानां द्वे मते दृष्टे। तत्र केषाञ्चित् मते तु परसवर्णता नित्या एव, अन्येषां मते तु वैकल्पिकी। ते द्वे अपि मते सूत्रकारेण योगविभागात् समाहिते। पक्षे विकल्पः, पक्षे नित्यता च। वक्तुं शक्यते यद् **'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः'** इति विधाने वैकल्पिको विकल्पः इति। मन्ये, अत्रापि लौकिकं संस्कृतं ब्राह्मणीयं संस्कृतं, द्वयमपि कुशलं समाहृतं समन्वयदर्शिना सूत्रकारेण।

3.7.12. अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः अधिकेषु हस्तलेखेषु समासे अपि असन्धिपाठः दृश्यते। अस्माभिः अपि तथैव गृहीतः। अपेक्ष्यते अत्र किञ्चिद् व्याकरणविचारः। प्रायेण आधुनिकैः वैयाकरणैः एतादृशाः प्रयोगाः न मृष्यन्ते, अशुद्धं च मन्यन्ते। प्रमाणाय उद्घोष्यते च तैरियं कारिका–

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

इयं कारिका सिद्धान्तकौमुद्याः (चौखम्बासुरभारतीप्रकाशनस्य प्रथमसंस्करणम् 1981) भ्वादिप्रकरणे 37 पृष्ठे 'शेषे विभाषाऽकखा ... (8.4.18)' सूत्रस्य वृत्तौ उद्धृता। बहुभिः इदं वार्तिकं मन्यते। जिज्ञास्यमानैः अस्माभिः डॉ. रामशंकरभट्टाचार्याः पृष्टाः। न हि एतस्याः कारिकायाः मूलं महाभाष्ये, वार्तिके, वाक्यपदीये वा, इति तेषाम् अनुमितम्। किन्तु सिद्धान्तकौमुद्याः बालमनोरमाटीकायाम्, 'उक्तमिति। हरिणेति शेषः।' इति लिखितम्। यद् वा स्यात्। नायं नियमः मुनित्रय-(पाणिनिकात्यायनपतंजलि) मूलकः। मन्ये, इयं कारिका कस्मिंश्चित् कालविशेषे प्रचलितायाः रचनाशैल्याः प्रकाशिकामात्रम्। न हि खलु इयं व्याकरणस्य सन्धिनियमविधायिका।

3.7.13. असंहित-समासस्य प्रयोगस्य पक्षे अस्ति हि एकं ज्ञापकं पाणिनीयशास्त्रे। 'संहितायाम्' इति सूत्रं तु द्विः प्रयुक्तम् अष्टाध्यायम्–6.1.71, 6.3.114 संहिता-शब्दस्य अर्थः अपि स्वयमेव सूत्रकारेण परिभाषितः–'परः

सन्निकर्षः संहिता' (पा. 1.4.109), अत्र काशिकाकारः "परशब्दोऽतिशये वर्तते। परः सन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः। परो यः सन्निकर्षो वर्णानामर्धमात्राकालव्यवधानं स संहिता संज्ञो भवति। दद्ध्यत्र। मद्ध्वत्र। संहिताप्रदेशास्संहितायामित्येवमादयः।" अत्र तु इदं निर्विवादं यत्, द्वयोः अपि स्थलयोः (6.1.71, 6.3.114) संहिताशब्दस्य एक एव अर्थः, स च यथा परिभाषितम् 1.4.109 सूत्रम्। संहितायाम् (6.3.114) सूत्रम् अधिकृत्य, सूत्राणि प्रायेण समासविषयकाणि। समस्तयोः पदयोः सन्निकर्षः, एकवाक्ये स्थितिः च अव्यभिचारेण सर्वदा सिद्धा, तथापि तत्र संहिता, असंहिता वा, इत्यस्य अपेक्षां कृत्वा परवर्तिसूत्राणां प्रवर्तनं क्रियते। अत एव सुसिद्धं खलु समासे अपि असंहितायाः संभावना। यद्यपि 6.3.114 इत्यधिकृत्य सूत्रैः सन्धिरूपाणि वर्णागम-विकारकार्याणि न विधानीकृतानि, तथापि असंहितायाः स्थितिः चेत् स्वीक्रियते, तर्हि सन्धिकार्याणि अपि तत्र समासेषु न प्रवर्त्यन्ते। अत एव मन्ये, अयोध्यातीर्थप्रशंसायां श्लो. 29a,b चरणयोः असन्धितसमासस्य प्रयोगः पाणिनि-सु-सम्मतः। पुराणविभागस्य रामायण-अनुसंधानशालायाः मतेन तु रामायणस्य पाठस्य मूलस्वरूपे शतशः असन्धितसमासानां प्रयोगाः वित्ताः। ते किन्तु, परवर्तिभिः लिपिकारैः, पण्डितम्मन्यमानैः च विनाशिताः। किन्तु तेषु स्थलेषु सन्धिकृतायाः अक्षरन्यूनतायाः पूरणाय विविधानि पाठान्तराणि सृष्टानि। तानि तु बडौदासंस्करणस्य पाठप्रस्तारे यथास्थलम् अद्यापि दृश्यन्ते, मूलभूताः असन्धिपाठाः च तैः सूच्यन्ते।

3.7.14. नहि अस्माकं मतं यद्, समासे सर्वत्र एव असंहिता एव भव्या। कुत्र, केषु वा, समासेषु असंहितः प्रयोगः वांछनीयः इति तु अन्वेष्टव्यः। प्राचीनभाषायां नष्टायाम् इदानीं दृढं निर्णेतुं न शक्यते। मन्ये, यत् प्रायेण बहुव्रीहिसमासेषु असंहितप्रयोगाः भवेयुः। षष्ठीसमासे तु संहितानि पदानि। द्वन्द्वे तु 'समाहारः' इतरेतरयोगः इत्यादिकानां विचारः अपि प्रासङ्गिकः। किन्तु, एते नियमाः सामान्येन अनुमातुं शक्यन्ते–

(क) यत्र समस्तपदानां पृथक् पृथक् अर्थबोधः वांछितः, तत्र असंहितः प्रयोगः एव वरः।

(ख) यत्र विशिष्टः संज्ञार्थः विवक्षितः तत्र तु संहिता एव आश्रितव्या। यथा-देवेन्द्रः।

(ग) अर्थबोधे स्पष्टता, लाघवं च, सार्वभौमः नियमः। अनायासेन वक्तुः अर्थाभिव्यक्तिः एव परं विवक्षितम् समासेऽपि सन्धावपि। विशेषं तु अनुसंधातृभिः प्राचीनग्रन्थानां पाठोद्धारैः एव विवेचनीयम्।

3.7.15. उपरि वक्ष्यमाणस्य विषयस्य मीमांसायै काचिदत्र पूर्विका (भूमिका) प्रस्तूयते। पूर्वोक्तं हि संहितायाः परिभाषा। परः सन्निकर्षः तु पदयोः, शब्दयोः वा उच्चारणे, कालान्तरालेन एव निर्णयः। काशिकाकारेण स्पष्टीकृतं यद् अर्धमात्राधिके

कालान्तराले संहितायाः/ सन्धेः वा, न हि कोऽपि अवकाशः। अर्धमात्राकालः एव मन्ये, न्यूनतमः कालान्तरालः। विचार्यतां तावद् इदं वाक्यम्,–'रामः अत्र अद्य अत्रिं अनु आगतः।' अत्र सन्ति अनेके प्रश्नाः–

(क) 'रा' 'म' योः मध्ये यः कालान्तरालः, किं स एव 'रामः अद्य' इति पदयोः?

(ख) 'अद्य' 'अत्रिं' एतयोः पदयोः मध्ये यः अन्तरालः, किं स एव 'अत्रिं' 'अनु' इति एतयोः पदयोः? तथा च 'अनु' 'आगतः' एतयोः मध्ये वा?

(ग)'अत्रि' पदे अकार–तकारयोः मध्ये यः कालान्तरालः, स एव 'त'कार 'र'कारयोः मध्ये किं? इति उत्तरितव्यं खलु भवद्भिः विद्वद्भिः। अत्र पृच्छ्यते। एतेषु कुत्र परः सन्निकर्षः? कुत्र वा परः सन्निकर्षः न? तथा च विधीयतां भवद्भिः यत्, कुत्र संहितायाः, सन्धिकार्यस्य च प्राप्तिः, कुत्र वा अप्राप्तिः। यदुच्यते, सन्धिः विवक्षाधीनः तत्र तु अवश्यं ज्ञेयं यद्, विवक्षा नाम न कामचारः। सा तु वाक्यस्य अर्थबोधेन नियन्त्रिता। उपर्युक्तेषु प्रश्नेषु यत्र भवद्भिः परः सन्निकर्षः निर्णेष्यते तद्व्यतिरिक्तेषु स्थलेषु सन्धिकार्यं तु व्याकरणविरुद्धं, नितरां च पाणिनेः असम्मतम्, नात्र कामचारस्य अवकाशः। ग्रन्थानां कण्ठस्थीकरणकाले, अथवा आवृत्तिमात्रे विवक्षिते तु भवेत् नाम अनियंत्रितः संहितः पाठः। यथा हि पाणिनिना कृतः सूत्रपाठः, वेदादीनां वा पाठः। लौकिकेषु भावव्यञ्जनामात्रलक्ष्येषु वाक्येषु संहितायाः सार्वत्रिकप्रयोगेण वाक्यार्थः एव दुष्टः, नष्टः वा भवेत्। असंहितप्रयोगे पाण्डित्यहतिं मन्यमानैः पण्डितप्रवरैः सुविचार्यतामेतत् सर्वम्।

3.7.15. अत्र अस्माभिःविचार्यते। 'परः सन्निकर्षः संहिता' एतस्य काशिकाकृतं विवेचनं पूर्वम् उक्तम्, वस्तुतस्तु चरमसन्निकर्षे एव पाणिनेः मतेन संहिताकार्यं प्रति प्रवर्तितव्यम्। तस्मात् किञ्चिद् अपि न्यूनतरे सन्निकर्षे न प्रवर्तितव्यम्। 'अत्रि' इत्यत्र मन्ये, तकाररकारयोः मध्ये यः सन्निकर्षः स एव परमः। एतेन सिद्धं, न हि केवलं समस्तपदेषु एव, अपितु एकपदे अपि असन्धेःसम्भावना भवति। तथा हि सिद्ध्यन्ते 'तितउना' इत्यादिकाः संस्कृतशब्दाः। एकपदे अपि सर्वेषु अक्षरेषु न हि लभ्यते समानमन्तरालम् संयुक्ताक्षरेषु एव न्यूनतरमन्तरालम्, न अन्येषु। तथा हि दृश्यन्ते देशीयभाषासु अपि तादृशाः प्रयोगाः। उत्तरप्रदेशस्य पूर्वाञ्चलेषु 'गइल' इत्यादिरूपेण असंहितोच्चारणं दृश्यते। अतएव सिद्धं यत्, एकपदे अपि संहिताकार्यं विवक्षाधीनं, न तु नित्यम्। वाक्यस्थानां मध्ये संहितोच्चारणं तु वार्तालापेनैव, तत्रापि क्वचिदेव, प्राप्यते। तत् हि कदाचित् पदयोः झटिति उच्चारणत्वात्। यथा हि आंग्लभाषायां–Do not इति कथोपकथने Do'nt इत्येवमुच्चार्यते। अथ वा यत्र हि वक्त्रा काकुविशेषः विवक्षितः, तत्र काकुकृते सन्धिः समाश्रयितव्यो नान्यथा।

3.7.17. श्लोकानामन्येभ्यः पदेभ्यः यतिःस्थलेषु अनिर्विवादः खलु उच्चारणे अधिकः कालान्तरालः। न हि नाम सिद्ध्यति यतिरन्यथा। उपर्युक्तेन विवेचनेन स्पष्टं यद्

यतिस्थलेषु परस्य सन्निकर्षस्य नितरामसिद्धिः। नास्ति तत्र काऽपि सन्धिप्रसङ्गस्य सम्भावना। तत्र सन्धिकार्यं तु पाणिनीयविरुद्धम्, मन्ये, सर्वैरपि व्याकरणैः विरुद्धम्। चरणयोः मध्ये तु यतेः अपि दीर्घतरः कालान्तरालः उच्चारणे। तत्र सन्धिविधायकाः तु व्याकरणं प्रति, पाणिनिं प्रति च नितरां निर्ममाः। एतस्माद् अपि अस्माभिः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः 29 तमस्य श्लोकस्य a b चरणयोः असंहितः पाठः एव संरक्षितः। ननु, यतिस्थले, चरणान्ते अपि, शिष्टप्रयोगेषु शतं वर्षाणि यावत् सन्धिप्रयोगः दृश्यते। भवतु नाम तत्र व्याकरणविरोधः परं शिष्टसम्मतत्वात् कथं स वर्जनीयः? अत्रोच्यते। सत्यमेव एते प्रयोगाः शिष्टसम्मताः। तैनैव ते मर्षणीयाः, अपि च जायेरन् सम्माननीया अपि, बाढं ते रक्षणीया अपि तेषु ग्रन्थेषु। किन्तु, न हि ते अनुकरणीयाः, तथा च श्रुतिः– ... **यानि अनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि** (तैत्तरीय उपनिषद् 1.11)।

4.0.0. यतिविचारः—न हि नाम प्रयोजनं खलु सायासं व्याकरणं विरुध्य भाषायां क्लिष्टत्वम् अर्जितुम्। समासे कृते अपि असन्धिप्रयोगः एव साधुः। समस्तेषु पदेषु अपि चरणभेदेन न अस्ति अवकाशः सन्धिकार्यस्य। पुराणविभागस्य रामायण-अध्ययनशालायाः मतेन हि ईदृशेषु स्थलेषु सन्धिकार्यं न दृश्यते। यत्तु दृश्यते अपि तत् तु परवर्तिकालस्य संशोधनं मन्तव्यम्। रामायणकार्यशालायाः परामर्शेन एतद् विषये अस्माभिः अयोध्यातीर्थप्रशंसामधिकृत्य किञ्चित् मीमांसितम् तत्तु अधो लिख्यते।

4.0.1. अत्र प्रश्नः। अयोध्यातीर्थप्रशंसायां तु अनुष्टुब् इंन्द्रवज्रा च इति द्वे वृत्ते प्रयुक्ते। न हि तत्र चरणमध्ये यतेः अवकाशः। चरणान्ते, विशेषतः प्रथमद्वितीययोः चरणयोः तथा तृतीयचतुर्थयोः चरणयोः सन्धिकार्यम् अस्माकं विवेचनाविषयः। द्वितीयतृतीययोः चरणयोस्तु मन्ये सन्धिप्रिये युगे अपि सन्धिदर्शनं दुर्लभमेव, ततश्च न तद् अत्र विचारविषयः। सन्धिकार्यं तु द्विविधम्,–प्रथमं तु यत्र वर्णलोपस्य, आगमस्य, पूर्वरूपस्य, पररूपस्य वा प्राप्तिः, तत्र सन्धिकृते सति अक्षरन्यूनत्वं, तस्माच्च छन्दो भंगः जायते। ईदृशेषु स्थलेषु असन्धिकृते मूलग्रन्थे परवर्तिलिपिकारैः न सहजेन सन्धिकर्तुं शक्यते। सन्धिकृते तु श्लोकस्य पुनः संशोधनमपेक्षते। अस्माभिः इयं दुष्कार्या इति संज्ञया वक्ष्यते। द्वितीये प्रकारके सन्धिविधाने तु सहजं हि सन्धिकरणम्। न हि तेन कोऽपि छन्दोदोषः, इयम् अस्माभिः सुकार्या इति वक्ष्यते। एतद् वर्गीकरणम् अनुसृत्य अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः पाठस्थितिः अत्र प्रस्तूयते।

4.0.2. इदानीं तावत् चरणान्ते असन्धिः विचार्यताम्। 29a चरणान्ते समासे अपि सन्धिः न कृतः। एतत् तु उपरि विचारितमेव। तद् व्यतिरिक्तेषु स्थलेषु स्थितिः अत्र प्रदर्श्यते–

(क) 16a, 40–एतेषु स्थलेषु सन्धयः विकल्पेन प्राप्ताः, किन्तु सुकरांः अपि ते मन्ये, चरणान्तमिति कृत्वा न कृताः।

(ख) 11a, 41c एतयोः स्थलयोः सन्धिः नित्यं प्राप्तः, सुकरः च सः, मन्ये, चरणान्त इति कृत्वा न कृतः।

(ग) 24c b चरणयोः मध्ये अपि सन्धिः नित्यं प्राप्तः, न हि ग्रन्थकारेण मन्ये चरणान्तं मत्वा सन्धिः अवलम्बितः, न वा, केनचित् संशोधकेन कृतः, यतो हि सः दुष्करः।

(घ) 7, 19, 32, 38, 43 एतेषु स्थलेषु सन्धिः कृतः, किन्तु ते सर्वे सुकराः एव।

(ङ) दुष्करसन्धिस्थलेषु चरणान्ते न कुत्रापि सन्धिः दृश्यते। इदं तु विशेषेण लक्षयितव्यम्। मन्ये दुष्करं मत्वा परवर्तिसंशोधकैः अपि न संशोधितम्।

(च) 29a b चरणयोः सन्धिः दुष्करः। किन्तु, समासे स्थितः। अत्र M कोशेन पाठं परिवर्त्य 'अन्न' इत्यस्य स्थाने 'धान्य' इति पठित्वा सन्धिप्रसङ्गः एव निवारितः।

एतेन वर्गीकरणेन निम्नलिखिताः निष्कर्षाः सहजेन अनुमातुं शक्याः।

(i) मन्ये, मूलग्रन्थे ग्रन्थकारेण चरणान्ते सर्वेषु सन्धिस्थलेषु, सुकरेषु, दुष्करेषु वा, कुत्रापि न सन्धिः समाश्रितः।

(ii) दुष्करसन्धिस्थलेषु परवर्तिभिः अपि संशोधकैः सन्धिः न कृतः। दुष्करास्ते, अतः संशोधने असमर्थाः।

(iii) सुकरसन्धिस्थलेषु परवर्तिभिः संशोधकैः संशोधनेन सन्धिः कृतः। तत्रापि तेषां दृष्टिपातवञ्चितेषु स्थलेषु अद्यापि सुकराः अपि विराजन्तेतराम्, निर्दिष्टश्चैतद् उपरि 'ख' वर्गे।

(iv) दुष्करसन्धिस्थलेषु समासत्वात् परवर्तिभिः संशोधकैः बलात् सन्धिप्रसङ्गाः एव निवारिताः द्र. उपरि 'ङ' वर्गः।

एवं हि चरणान्ते असन्धिः एव अस्माकं सिद्धान्तः। रक्षिताः च असन्धिपाठाः बहुषु स्थलेषु अस्माभिः। न हि किन्तु एकरूपतायाः चेष्टा कृता, हस्तलेखसाक्ष्यगौरवात्। अतो हि 'घ' वर्गे परिगणितेषु स्थलेषु सहजमेव निर्माणपाठेन सन्धिनिवारणे सम्भवे अपि पाठनिर्माणं न अस्माभिः समाश्रितम्। मन्ये, तत् कृते अधिकतराणां कोशान्तराणां अवलोकनमपेक्षितम्। तत् कृत्वा एकरूपतायाः विषये परवर्तिभिः पाठवैज्ञानिकैः प्रवर्तितव्यम्। एवमेव रामायणे महाभारते, पुराणादिषु च अनुसंधातृभिः अचरणान्तसन्धिविषये अपि अनुसन्धेयम्।

4.0.3. अत्र इदम् अपि वक्तव्यं यद्, 'अयोध्यातीर्थप्रशंसायां' चरणान्ताद् व्यतिरिक्तेषु असन्धिप्रयोगाः दृश्यन्ते। तानि तु,–4a, आदीनि स्थलानि।

4.1.0. श्लोकानां संख्या, विभागश्च—इदानीं श्लोकानां संख्यायाः, विभागस्य च विषये प्रवर्तितव्यम्। पाठवैज्ञानिकसंस्करणेषु श्लोकानां संख्याः दृश्यन्ते। प्रायेण किन्तु, न विचारितं पाठवैज्ञानिकैः सम्पादकैः, यद् स्वीकृतपाठे दत्ता श्लोकसंख्या तेषां मतेन मूलग्रन्थस्य पाठरूपा? अथवा सम्पादकैः सुविधार्थमेव स्वतन्त्ररूपेण स्थापिता? श्लोकसंख्यानां पाठान्तराणि अपि सम्पादकैः न दीयन्ते। एतत् सर्वं चिन्त्यम्। एतस्य ग्रन्थस्य सम्पादने अस्माभिः विचारितम्। अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः चत्वारः कोशाः अस्माभिः प्रयुक्ताः। R.M. कोशयोः श्लोकसंख्याः न समीचीनाः। M. कोशस्य पाठस्तु मुद्रितात् पुस्तकाद् गृहीतः, अत एव मूलग्रन्थस्य स्थितिः न हि दृढं वक्तुं शक्यते, किन्तु; मुद्रितात् पाठाद् अनुमीयते यद् मूले अपि संख्याः न विन्ताः। B कोशे का स्थितिः इत्यपि वक्तुं न शक्यते। यतो हि श्रीमान् 'बाकरः' अस्मिन् विषये मौनः। S कोशे तु संख्याः प्रदत्ताः। अयोध्यातीर्थप्रशंसायामपि अस्माभिः कोशसाक्ष्य–गौरवाद् अनुमीयते यद् मूलग्रन्थे श्लोकाः न संख्याताः। ज्ञातव्यं यद्, R हस्तलेखे संख्याः न विद्यमानाः। R हस्तलेखस्तु 'S' हस्तलेखात् प्राचीनः। किन्तु पाठकानां सुविधायै सम्पादिते पाठे संख्याः दत्ताः, ते तु ग्रन्थस्य मूलस्वरूपे न अङ्गीभूता इत्येव अस्माकं मतम्। अतः एव श्लोकसंख्यानां पाठान्तराणि च प्रपञ्चविस्तरभयात् न प्रदर्शितानि।

प्रायेण रामायणस्य, महाभारतस्य, पुराणस्य च श्लोकानां भृशम् अव्यवस्था दृश्यते। मन्ये, एतस्याः अव्यवस्थायाः निम्नलिखिताः हेतवः–

4.1.1. अधिकांशेषु हस्तलेखेषु श्लोकसंख्याः न दीयन्ते स्म। तेन लोकैः यथेच्छं श्लोकपरिगणनाः कृताः। अतो हि श्लोकानां विभागे अस्तव्यस्तता स्वाभाविकी एव।

4.1.2. अद्य तु मुद्रितेषु पुस्तकेषु श्लोकार्धे एव दण्डो लिख्यते तथा च श्लोकान्ते दण्डद्वयम्। एवं हि बहुषु हस्तलेखेषु दृश्यते। किन्तु, अनेकेषु हस्तलेखेषु, श्लोकार्धे, श्लोकान्ते च, द्वयोरेव समानरूपेण एको दण्डो, दण्डद्वयं वा दृश्यते। एतेन श्लोकार्धान्तस्य, श्लोकान्तस्य च भेदः सर्वथा अपमृष्टः।

4.1.3. पुनः प्रक्षिप्तादिभिः उपबृंहणात् सा अव्यवस्था भूयः अपि वृद्धिं गता। यत्र तत्र श्लोकार्धाः अपि प्रक्षिप्तरूपेण दृश्यन्ते। तैः तु समस्या अधिकतरं जटिलीभूता। सहस्रेषु वर्षेषु एवं गतेषु इयं समस्या एवं घनायिता येन, ग्रन्थकारेण परिश्रमे कृते अपि श्लोकविभागस्य उद्धारः अद्य सुदुर्लभः प्रायेण। अत्र अर्थसंगतिः एव एकमात्रम् आधारो भवितुं अर्हति पाठ–संख्ययोः निर्धारणे। अतएव अर्थबोधम् एव आधृत्य अस्माभिः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः श्लोकेषु संख्याः स्थापिताः। स्याद् अत्र मतभेदावकाशः, स

मृष्यतां विद्वद्भिः। प्रचलितां सम्पादनशैलीमनुसृत्य अस्माभिः अपि द्विचरणात्मकं षट्चरणात्मकं वा अनुष्टुब्वृत्तं स्वीकृतम्। अत्र क्रमः एव तत्र निर्णये प्रमाणम्।

4.1.4. अत्र एकः अन्यः अपि विचारविषयः उत्क्षिप्यते, यत् सत्यम्, अनुष्टुब्वृत्तं चतुष्पादम्, किन्तु उपर्युक्त-अस्तव्यस्तस्थितौ व्यवहारतः श्लोकार्धः एव ग्रन्थरचनाया छन्दसः प्रमाणतां गतः। तत् कथं वा न श्लोकार्धः एव पूर्णश्लोकरूपेण परिगण्येत। प्रायेण रामायणं चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मकमिति उच्यते। पाठवैज्ञानिकैः तु अनुमीयते यद्, मूलस्वरूपे एतस्माद् न्यूनतरं रामयणस्य श्लोकप्रमाणं वित्तम्। मन्ये, पुरा कदाचिद् ग्रन्थ-परिमाणे श्लोकार्धानामेव गणना क्रियते स्म। सर्वथा सम्भवं यद्, रामायणस्य ग्रन्थपरिमाणविषये चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकेन वस्तुतः तु चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकार्धः एव अभिप्रेतः। एतेन प्राचीनमतस्य पाठवैज्ञानिकानां मतेन अपि संभूयेत। ततश्च रामायणस्य मूलपरिमाणं चतुष्पादात्मकैः अनुष्टुब्वृत्तैः द्वादशसहस्रात्मकमेव।

उपर्युक्तमतस्य पक्षे अन्यदपि एकं प्रमाणं लक्ष्यते। प्राकृतभाषायां, देशीभाषायां च, कथात्मकेषु बृहत्कायेषु ग्रन्थेषु 'चौपाई' 'चौपई' वा छन्दः प्रायेण प्रयुज्यते स्म। चौपाई छन्दः अपि छन्दःशास्त्रानुसारेण चतुष्पादमेव। किन्तु, देशीय-भाषायां रामायणादिषु स्पष्टं प्रतीयते यद्, ग्रन्थरचनायां द्विचरणात्मकमेव चौपाई छन्दः परिमाणरूपेण स्वीकृतम्। तथा च ग्रन्थपरिमाणस्य परिसंख्याने द्विचरणात्मकमेव चौपाई छन्दः परिगण्यते स्म। एतत् कृते 'अर्धाली' इति नवीना संज्ञा अपि प्रचलने आगता। मन्ये, एतत् तु अनुष्टुब्-वृत्तस्य श्लोकार्धः एव छन्दसः प्रमाणम्, एवं तस्मिन् काले प्रचलितायाः मान्यतायाः प्रभावः अनुकरणं वा वक्तुं शक्यम्।

4.1.5. पुराणविभागीय-रामायण-कार्यशालायाः मतेन तु रामायणस्य मूलस्वरूपे सर्वे अनुष्टुपः चतुष्पादात्मकाः एव। सर्वे च ते एकार्थबोधकाः, अखण्डवाक्यरूपाः च। अर्थानुसारेण ते स्वस्मिन्नेव पूर्णाः। पूर्ववर्तिनः, परवर्तिनः वा श्लोकात् स्वतन्त्राः। परवर्तिकाले श्लोकविभागस्य भ्रष्टतां गते, अर्थान्वये च नितरां कामचारः प्रवर्तितः। न हि केवलम् अनेके श्लोकाः एकान्वयिनः स्वीकृताः, अपितु, एकस्मिन्नेव श्लोके पूर्णवाक्यस्य परिसमाप्तिः नवीनवाक्यस्य आरम्भः अपि दृश्यते। पुराणादिकानां इयमेव विकृता शैली कथासरित्सागरादिभिः ग्रन्थैः अनुसृता। रामायणस्य मूलस्वरूपे कामं हि युग्मकानि कुलकानि वा पद्यानि वित्तानि। न किन्तु एकान्वयिनः श्लोकाः। श्लोकान्वये तु कामचारः। एवं हि रामायणस्य मूलस्वरूपे न हि खलु आसन् द्विचरणात्मकाः, षट्चरणात्मकाः वा श्लोकाः। रामायणकार्यशालायाः मतेन रामायणस्य मूलश्लोकविभागस्य उद्धारः पाठान्तराणां सम्यक् मीमांसया अद्यापि न सर्वथा असम्भवः, कामं वा तद् दुष्करं स्यात्।

4.1.6. उपर्युक्तदृष्ट्या अपि अस्माभिः अयोध्यातीर्थप्रशंसा परीक्षिता। अस्माकं मतेन तु अयोध्यातीर्थप्रशंसा तत्कालिकस्य रचना, यदा श्लोकार्धः एव श्लोकमानरूपेण स्वीकृतः आसीत्, तथा च श्लोकानाम् अन्वये सर्वथा आसीत् कामचारः। तस्माद् एव अयोध्यातीर्थप्रशंसाकारेण चतुःचरणात्मकैः श्लोकैः ग्रन्थस्य रचना एव न अकारि। स तु चतुःचरणात्मकस्य श्लोकस्य विभागः अस्माभिः कृतः, तथैव च श्लोकसंख्यानं कृतमिति हन्त। एतत् सर्वं तु कृत्रिमम् आरोपमात्रं च, इति वक्तुं न मनागपि सन्देहः। चतुःपादात्मकश्लोकरूपेण आधुनिकसंपादनेन एव जाताः श्लोकविभागस्य सर्वाः समस्याः। तर्हि ईदृशानां ग्रन्थानां संपादने अर्धालीशैलीम् अनुसृत्य श्लोकार्धः एव परिगण्येत, इति अस्माकं प्रस्तावः विद्वद्भिः विमृश्यताम्।

4.2.0. कोशानां विवरणम्—नरसिंहपुराणस्य 'अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः' संपादने अस्माभिः चत्वारः कोशाः प्रयुक्ताः, तेषामत्र संक्षिप्तं विवरणं प्रस्तूयते। सरस्वतीभण्डाराद्, वाराणसीस्थ रामनगरदुर्गात् अस्माभिः द्वौ हस्तलेखौ प्राप्तौ, तत्र सौविध्यर्थम् एकस्य संकेतः 'R' (रामनगर) रोमकाक्षरेण कृतः, अन्यस्य च 'S' (सरस्वतीभण्डार) रोमकाक्षरेण।

4.2.1. R हस्तलेखः—नं. 17/196 नरसिंहपुराणनामकम् उपपुराणम्, अत्र लेखनकाललेखकयोः अनुल्लेखः, पत्रांक सं. 82, लिपिः देवनागरी। प्रतिपत्रं प्रायेण 13 पंक्तयः, पंचमाक्षरस्य स्थाने, चरणान्ते च अनुस्वारस्य प्रयोगः, श्लोकसंख्यायाः अनुल्लेखः, श्लोकान् विभाजयितुम् उर्ध्वदण्डद्वयस्य प्रयोगः, कुत्रापि अप्रयोगोऽपि। हस्तलेखस्य संपूर्णं परिमाणं 23.3×98 से.मी.। पार्श्वयोः।। न. सि पु.।। लिखितं, पृष्ठसंख्या रक्तवर्णयोः उर्ध्वदण्डयोः मध्ये अंकिता। 66 पृष्ठस्य, 8 तमायाः पंक्तेः आरभ्य 69 पृष्ठस्य 11 पंक्तिपर्यन्तं सप्तचत्वारिंशत्तमः अध्यायः। यत्र तत्र पीतपत्राणि, पत्रस्य पृष्ठे, दक्षिणभागे हे रं ब, लिखित्वा संख्या दत्ता।

4.2.2. S हस्तलेखः—अयं वि. सं. 1890 तमे ब्राह्मणनानुरामदधीचिना लिखितः। उत्तरार्द्धे पत्रसंख्या 139, नं. 92/196। प्रतिपत्रं 7 पंक्तयः। देवनागरीलिपिः। हस्तलेखपरिमाणम् 30×11.5 से.मी.। लेखनक्षेत्रपरिमाणम् 23.8×9.0 से.मी., पंचमाक्षरस्य स्थाने, चरणान्ते च अनुस्वारप्रयोगः। एकस्य पत्रस्य उपरि पार्श्वे अधिकाः श्लोकाः। 47 तमः अध्यायः। 41 श्लोकाः। श्लोकान् विभाजयितुं द्वयोः दण्डयोः प्रयोगः।

4.2.3. B कोशः—एष हस्तलेखः डॉ. बाकरेण स्वसम्पादिते अयोध्यामाहात्म्ये प्रयुक्तः। स्थाने स्थाने च तेन अस्य श्लोकाः उद्धृताः। अस्माभिः तु एतस्य पाठान्तराणि डॉ. बाकरस्य ग्रन्थाद् उद्धृतानि। डॉ. बाकरस्य अनुसारेण अयं हस्तलेखः लन्दनस्थे इण्डियाऔफिसपुस्तकालये संरक्षितः। पुस्तक सं. E 3375, 109/8 इति (विशेषविवरणं

तु एगेलिंगस्य कैटलाग आफ संस्कृतमेनिस्कृप्ट्स इन द इण्डियाऔफिसलाइब्रेरी ग्रन्थे द्रष्टव्यम्)। अस्य लिपिकालः विक्रमसंवत् 1855 । एतस्मिन् हस्तलेखे रामप्रादुर्भावात् परमयम् अयोध्यातीर्थप्रशंसानामकः अध्यायः पठ्यते (वेंकटेश्वरसंस्करणे रामप्रादुर्भावः 52 तमः अध्यायः)। इण्डियाऔफिसहस्तलेखे तु अयोध्यातीर्थप्रशंसा 50 तमः अध्यायः। हस्तलेखे श्लोकाः न परिसंख्याताः। डॉ. बाकरेण स्वकीय-अयोध्यामाहात्म्यस्य द्वितीये खण्डे तेषु तेषु अध्यायेषु अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः श्लोकाः उद्धृताः, तेषामत्र निर्दिश्यते (अस्माकं सम्पादितायाः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः श्लोकाङ्काः कोष्ठाद् बहिः उद्धृताः, डॉ. बाकरस्य ग्रन्थस्य द्वितीयखण्डस्य अध्यायसंख्याः कोष्ठेषु दत्ताः) तत्र श्लोकानामयं क्रमः II-6-11(59), 12(30), 13-14(47), 15-19(42), 20-25(50), 30-38 (10), 39 (71), 41 (62), 44 (64)। 45 तमः श्लोकः हस्तलेखस्य विवरणे II XVII पृष्ठे उद्धृतः, किन्तु, 26, 29, 40, 42, 43 तमाः न उद्धृताः, केवलं तत्सम्बन्धितीर्थानि I. 132 पृष्ठे चर्चितानि। 1-6 तमा श्लोकाः न उद्धृताः, न वा तत्तीर्थानि चर्चितानि, मन्ये, डॉ. बाकरेण इमानि पद्यानि अप्रासंगिकानि स्वीकृतानि)।

4.2.4. M कोशः— म.म. श्रीमित्रमिश्रविरचितस्य 'वीरमित्रोदयस्य दशमः खण्डः तीर्थप्रकाशः'। डॉ. बाकरस्य अनुसारेण अस्य रचनाकालः ईस्वीसंवत् 1615-16 मध्ये वर्तते। चौखम्बासंस्कृतसीरीज 1917-18, No. 239-242, 247/8, विष्णुप्रसादेन सम्पादितः।

4.3.0. पाठप्रस्तारः—पाठप्रस्तारविषये निम्नलिखिताः अर्थाः अवधेयाः। मूले धृतपाठस्य स्थाने यानि यानि पाठान्तराणि कोशेषु दृश्यन्ते, तेषां लाघवेन स्पष्टरूपेण च पाठप्रदर्शनमेव पाठप्रस्तारस्य प्रधानमुद्देश्यम्। यथासम्भवं तत्र पाठनिर्णयाय अन्या अपि उपयोगिन्यः सामग्र्याः पाठप्रस्तारे निवेशयितव्याः। वैयाकरणशब्दावलीमनुसृत्य मूले धृतः पाठः 'स्थानि' इति वक्तुं शक्यते, पाठान्तराणि 'आदेश' इति। अस्माभिः प्रयुक्तायाः पाठप्रस्ताररीतेः विषये अत्र विव्रियते।

4.3.1. श्लोकानां विभिन्नाः चरणाः a, b, c, d, e, f प्रभृतयः लघुरोमाक्षरैः पाठप्रस्तारे सूचिताः। सर्वे चरणाः मूलपाठस्य मुद्रणे पृथक् पृथक् मुद्रिताः पाठकानां सुविधायै। एतत् तु अस्माकं संस्करणस्य वैशिष्ट्यम्।

4.3.2. रामायणमहाभारतयोः पाठसमीक्षात्मकसंस्करणे तेषु स्थलेषु 'स्थानि' निर्देशः न कृतः, यत्र पाठान्तरस्वरूपेणैव पाठकैः सहजमेव स्थानि अनुमातुं शक्यते। अस्माभिः अपि यत्र तत्र एषा अपि शैली अंगीकृता, यथा हि, पाठप्रस्तारे 19 तमस्य श्लोकस्य b चरणे 'पुरन्धर' इति B हस्तलेखस्य पाठान्तरं दत्तम्, न किन्तु किमपि

'स्थानि' निर्दिष्टम्। किन्तु स्वरूपसाम्येन अत्र सहजम् अनुगन्तुं शक्यते यद्, इदं पाठान्तरं मूलपाठे स्थितस्य 'पुरन्दर' पदस्य एव। (4.3.5. अनुच्छेदः अपि द्रष्टव्यः)।

4.3.3. प्रायेण अस्माभिः पाठप्रस्तारे मूले धृतः पाठः, पाठान्तराणि चापि दत्तानि। तेषां पुरस्तात् तेषां कोशानां संकेतेन निर्देशः कृतः, येषु मूलपाठः, पाठान्तराणि वा दृश्यन्ते। मूले धृतः पाठः सर्वप्रथमं दत्तः, ततः पाठान्तराणि। अथ च अनेकेषु पाठान्तरेषु लब्धेषु सर्वाणि पाठान्तराणि मूले धृतपाठस्य स्वरूपसादृश्यक्रमेण दत्तानि। यथा च 8 तमस्य श्लोकस्य C चरणे 'च रुद्रैश् च' इत्यस्य अतिसादृश्यात् प्रथमं 'सरुद्रैश् च' इति पाठः, असादृश्याद् 'मुनींद्रैश् च' चरमे दत्तः।

4.3.4. सर्वपाठान्तरैः सह मूले धृतपाठस्य अपि पाठप्रस्तारे प्रदर्शनात्, स च प्रथमे दत्तत्वात् स्थानिनिर्देशश्च स्वयमेव जायते। अतश्च सविशेषेण स्थानिनिर्देशः न कृतः। एतस्याः पद्धत्याः प्रयोगः पं. श्रीविश्वनाथप्रसादमिश्रैः रामचरितमानसस्य, काशिराजसंस्करणे कृतः, तथा च डॉ. माताप्रसादगुप्तेन रामचरितमानसस्य स्व-संस्करणे। एतस्य वैशिष्ट्यं, लाघवं चेदं यत्, मूले धृतस्य पाठस्य परिवर्तने कृतेऽपि पाठप्रस्तारस्य पुनः लेखनं न अपेक्षते, अधिकाधिकं तु पाठान्तराणां क्रमेण परिवर्तनं कर्तव्यम्, तदपि तु न अति आवश्यकम्। एतस्माद् एव इयं पद्धतिः मूलपाठनिरपेक्षा इति अभिधातुं शक्यते। एतस्याः एकः एव दोषः, सर्वेषां कोशानां प्रत्येकं स्थलेषु उल्लेखाद् ग्रन्थगौरवं जायते। एतत् कृते निम्नलिखितं विधानमाविष्कृतम् अस्माभिः।

4.3.5. पाठप्रस्तारे दत्ताः ये ये पाठाः यत्र यत्र दृश्यन्ते तत्र तत्र कोशानां निर्देशः रोमकाक्षरैः संकेतैः कृतः, यस्य पाठान्तरस्य पुरस्तात् 'O' चिह्नं अंकितं, तत्तु अनेकेषु अखिलेषु कोशेषु विज्ञेयम्। व्यवहारतः यानि च पाठान्तराणि अल्पतरेषु कोशेषु दृश्यन्ते, तेषां कोशनिर्देशः संकेतैः कृतः। यत्तु पाठान्तरं सर्वाधिकेषु कोशेषु दृश्यते, तस्य पुरस्तात् 'O' चिह्नं स्थापितम्। यत्र 4.3.2. अनुच्छेदस्य रीत्या स्थानी न निर्दिष्टः तत्र दत्तेषु पाठान्तरेषु प्रथमस्य पाठान्तरस्य पूर्वं 'O' चिह्नमङ्कितम्। एतेन निर्दिश्यते यत् मूले धृतः पाठः सर्वेषु अखिलेषु, शेषेषु च कोशेषु लभ्यते। पाठप्रस्तारे प्रदत्तं 'O' पूर्वकं पाठान्तरं हि स्थानिनिर्देशकम्। एतेन पूर्वोक्तग्रन्थगौरवदोषः निरस्यते। एतद् अपि अस्माकं संस्करणस्य नवीनः प्रयोगः।

4.3.6. यत्र च 'स्थानि' निर्देशः उपर्युक्तनियमा-(4.3.2)नुसारेण न कृतः, तत्र मूले धृतः पाठः एव अखिलः पाठः इति विज्ञेयम्। तस्मिन् स्थले केषांचिद् अपि पाठान्तराणां परेण 'अखिल'-चिह्नं न दृश्येत। अतो हि विज्ञेयं यद्, यस्मिन् स्थले पाठप्रस्तारे 'अखिलचिह्नं दृश्येत', तत्र तु 4.3.2 नियमः एव प्रयुक्तः। यस्मिन् स्थले केषुचिद् अपि पाठान्तरेषु अखिलं (O) चिह्नं दृश्यते, तत्र 2-5 नियमः एव अनुसृतः।

4.3.7. यत्र उपलब्धेषु पाठान्तरे न कोऽपि पाठः संपादकेन स्वीकृतः, अपि च न कश्चिद् उद्भावितः निर्माणपाठः मूले धृतः, तत्र पाठप्रस्तारे प्रथमं मूले धृतः पाठः (निर्माणपाठः) एव लिखितः। तस्य पुरः '=' चिह्नं दत्वा अन्यानि सर्वाणि पाठान्तराणि कोशनिर्देशैः सह दत्तानि। अतो हि पाठप्रस्तारे '=' चिह्नस्य प्रयोगः निर्माणपाठस्य सूचकः। एवं सूचिते सति मूले धृतनिर्माणपाठे बडौदा-भण्डारकरसंस्करणवत् '*' तारकचिह्नम् अनावश्यकम्, इच्छानुसारं वा दीयेत, अस्माभिस्तु न दत्तम्। अयमपि नवीनः प्रयोगः विदुषां विचार्यताम्।

4.3.8. सम्पूर्णं शब्दं, पदं वा न दत्वा तस्य एकम्, एकाधिकं वा अक्षरं लिखित्वा, तदग्रे, पूर्वे वा एकं लघुमण्डलकं लिख्यते, तेन अन्य-अक्षराणां संक्षेपः कृतः इति सूच्यते। यथा हि–किसलयं=कि०, ०सल०, अथ वा ०लयं – इत्यादिकम्।

4.3.9. प्रायेण हस्तलेखेषु 'गच्छति' इत्यस्य स्थाने 'गछति' इत्यादिकं दृश्यते। श्रीविश्वनाथप्रसादमिश्रैः ऊहितं यद् अत्र वस्तुतस्तु 'गच्छति' इति पाठः लिपिकरेण विवक्षितः (द्र. रामचरितमानस, भूमिका, काशीराजसंस्करणम्)। अथ तेषां मतेन मध्ययुगीयेषु हस्तलेखेषु प्रायेण अक्षरद्वित्वं न लिखित्वा मूलाक्षरमेव सकृत् लिख्यते स्म। तस्य अक्षरस्य द्वित्वस्य बोधनाय तस्य उपरि द्वित्वचिह्नं अङ्क्यते स्म। एतेन 'खग' इत्यत्र 'ग' अक्षरस्य उपरि द्वित्वचिह्नेन 'खग्ग' इत्यस्य बोधः जायते। क्वचित्तु द्वित्वचिह्नस्य प्रयोगः न वा क्रियते स्म, तत्र तद् उह्यं मन्यते स्म। क्वचित्तु अनुलिपिपरंपरासु लिपिकाराणां प्रमादैः द्वित्वचिह्नं भ्रश्यते स्म। अतएव 'खग' इत्यपि 'खग्ग' एव प्रसङ्गानुसारेण पठनीयम्। 'गच्छति', 'गच्छृति' इत्यनयोः उच्चारणसादृश्यात् 'गच्छति' इत्यत्रापि द्वित्वप्रयोगः प्रवर्तितः। स च कालेन 'गच्छति' रूपतां गतः। क्वचित्तु द्वित्वचिह्नं लिपिकरैः अज्ञानवशाद् अनुस्वारः अमानि। एतस्य सु निदर्शनम् अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः 43 तमस्य श्लोकस्य 'd' चरणे, R हस्तलेखस्य पाठे दृश्यते। वस्तुतस्तु 'गच्छन्ति' इति R पाठः मूले आदर्शे 'गच्छति' इत्यस्यैव सूचकः। लिपिकरः द्वित्वचिह्नस्य अज्ञानाद् भ्रान्तः। एतेन द्वित्चचिह्नस्य प्रयोगः सुसिद्धः। एवं कृत्वा 'गछति' इत्यत्र 'गच्छति' इति मन्वानैः अस्माभिः 'गच्छति' इत्यादिकस्य पाठान्तरं न प्रकाशितम्। एषा तु लिपिशैली एव, न तु पाठान्तरम्। मन्ये, एषा शैली अरबीयलिप्याः प्रतिगृहीता। अरबीयलिप्यामिदं द्वित्वचिह्नं 'तस्दीद' इत्युच्यते। एषा लिपिः मुसल्मीनसंसर्गेण भारतवर्षे सम्प्राप्ता। एतत् कृते प्राचीनासु ब्राह्मी-आदिषु लिपिषु किञ्चिद् द्वित्वचिह्नं वित्तं न वा इति सुप्राचीनैः लिपिविद्भिः विज्ञेयम्।

4.3.10. पदच्छेद-वर्णविश्लेषविषये किञ्चिद् विचार्यताम्। प्रचलितायां देवनागरीशैल्यां भिन्नयोः पदयोः, अक्षरेषु पृथक् पृथक् शिरोरेखा प्रयुज्यते। यथा हि 'तानि त्वं'। किन्तु, सन्धिस्थलेषु भिन्नयोः अपि पदयोः एका एव शिरोरेखा प्रयुज्यते। यथा हि 'तान्यहं'। इदं तु अवैज्ञानिकम्। एकया शिरोरेखया एकपदस्य भ्रमः सम्भवः।

पुनः च इदं नितराम् असुविधाकरम्, संस्कृतभाषायां क्लिष्टत्वकरं च। अनेकेषु सर्वथा भिन्नेषु पदेषु एकया एव शिरोरेखया पदानां छेदः, अर्थबोधश्च बालानां सामान्यजनानां च कृते सु दुष्करः। एतस्य निवारणाय पाश्चात्त्यविद्वद्भिः रोमनलिपिषु लिखितेषु संस्कृतेषु हलन्तानि पदानि प्रयुज्यन्ते। तथा हि 'Tany aham'(तान्यहं) Ramam atra (रामम् अत्र) इदमपि मन्ये अवैज्ञानिकम्; इति पूर्वमेव अस्माभिः प्रदर्शितम्। 'रामम् अत्र' 'राममत्र' इति अनयोः भेदः। एतत् सर्वं विचार्य अस्माभिः एतस्य ग्रन्थस्य नवीनः प्रयोगः आविष्कृतः। वामावर्तस्य (') चिह्नस्य दक्षिणावर्तस्य च (') चिह्नस्य प्रयोगेण एषा समस्या सहजं हि निरसनीया। 'राममत्र' इति तु 'राम'मत्र' इत्येवं लेखनीयम्। एतेन पदपार्थक्यं सूच्यते। तथा च सूच्यते पूर्वपदात् विश्लिष्य कस्यचित् वर्णस्य परपदे संश्लेषः। पूर्णरूपेण स्पष्टीकर्तुम् अस्माभिः एतेषु स्थलेषु वामावर्तं (') चिह्नं प्रयुक्तं 'राम'मत्र'। एतेन ज्ञायते यद् वामतः वर्णः विश्लिष्य दक्षिणतः गतः। तथा च 'तान्यहं' इत्यत्र 'तान्य'हं' इति दक्षिणावर्तं चिह्नं (') एवं लिखितम्। एतेन ज्ञायते यद् दक्षिणतः विश्लिष्य वर्णः वामतः गतः। यद्यपि आंग्लभाषायामिव एकेन एव दक्षिणावर्तचिह्नेन द्वयोः अपि स्थलयोः प्रयोगः सम्भवः। परम् अस्माभिः दक्षिणावर्तस्य वामावर्तस्य च, उभयस्यापि प्रयोगः सुविधार्थं कृतः। एतस्य प्रयोगे कृते(ऽ) अवग्रहस्य पृथक्प्रयोगस्य न किमपि प्रयोजनमिष्यते। यथा–'रामेऽत्र' इत्यत्र 'रामे' त्र'इति। एतस्याः नवीनायाः शैल्याः प्रयोगेण पदच्छेदविषये निम्नलिखितानां वैज्ञानिकसिद्धान्तानां प्रतिष्ठा कर्तुं शक्यते–

(क) अखण्डपदानि एकया एव शिरोरेखया प्रदर्शितानि।

(ख) भिन्नानि पदानि पृथक् पृथक् शिरोरेखाभिः ज्ञापितानि, पृथक्–पदानां मध्ये सन्धिकार्याणि उपर्युक्ताभ्यां प्रश्लेषचिह्नाभ्यां (' ' ' ') प्रदर्शितानि, किन्तु पदानां पृथक्त्वं पृथक् पृथक् शिरोरेखाभिः सुरक्षितानि।

(ग) समस्तपदेषु सर्वाणि पदानि संश्लिष्टानि मुद्रितानि, किन्तु, तेषां समस्तानां पदानां शिरोरेखासु प्रत्येकं पदेषु किञ्चित् विश्लेषः कृतः।

(घ) यत्र समस्तेषु चरणभेदेन अन्तरालः कृतः, तत्र समासस्य '–' चिह्नं प्रयुक्तम्।

4.3.11. अन्येषु सर्वेषु अपि सन्धिस्थलेषु एतस्याः शैल्याः प्रयोगेण सन्धिस्थलानां परिज्ञानं बालकानां, प्राकृतजनानां च कृते सुलभम्। निर्णयसागरप्रेसमुम्बईतः प्रकाशिते (1934) भट्टिकाव्यस्य अष्टमे संस्करणे सन्धिस्थलानां ज्ञापनाय उदात्तचिह्नप्रतिरूपकस्य उर्ध्वदण्डस्य (।) प्रयोगः दृश्यते। ईदृशेषु स्थलेषु दक्षिणावर्तस्य ('), वामावर्तस्य (') वा प्रश्लेषचिह्नस्य प्रयोगः अलम्। यथा– देवे'न्द्रः, प्रे'जते इति।

मन्ये, एतस्मिन् अनुच्छेदे, पूर्वोक्ते च अनुच्छेदे संस्कृतभाषायाः लोकभाषारूपेण प्रचारं कामयमानैः जनैः प्रश्लेषचिह्नस्य प्रयोगः सुतराम् अभिनन्दयिष्यते।

कोशानां निर्देशः–

R– रामनगरस्य हस्तलेखः।

S– सरस्वतीभण्डारस्य हस्तलेखः।

B– बाकरेण स्वसम्पादिते अयोध्यामाहात्म्ये उद्धृतः कोशः।

M– मित्रमिश्रेण विरचितस्य वीरमित्रोदयस्य तीर्थप्रकाशः।

'S' हस्तलेखे कतिपयेषु स्थलेषु 'प' 'य' आदिषु अक्षरेषु, बहुशः आकृतिसाम्यं दृश्यते, लेखनभ्रमः इति कृत्वा तेषां पाठान्तराणि न दत्तानि। 'S' पाठस्य एतादृशानि अक्षराणि मूलपाठस्य अनुसारेणैव पठितानि। एवं 'R' 'S' हस्तलेखयोः 'व' 'ब' अक्षरयोः सर्वत्र भेदः न दृश्यते। अस्माभिः तु तानि मूलपाठानुसारेणैव पठितानि। तत् कृते पाठान्तराणि न उल्लिखितानि।

4.4.0.संकेतसूची—पाठप्रस्तारक्रमे मूले धृतः पाठः, स्थानिनिर्देशकं पाठान्तरं वा, स्थूलाक्षरेषु मुद्रितम्। इदानीं पाठप्रस्ताराय उपयोगीनि चिह्नानि प्रस्तूयन्ते–

(1) a, b, c, d, e, f (चरणविभाजकाः रोमांकाः)। श्लोकान् विभाजयितुं संपादने एषां प्रयोगः कृतः।

(2) [ ] (कोष्ठकाः) ईदृशेषु कोष्ठकेषु संपादककृताः टिप्पण्यः ज्ञेयाः।

(3) '/ ' (विश्लेषचिह्नम्) यत्र पूर्वपदस्य वर्णः सन्धिनियमेन स्वपदाद् विश्लिष्य परपदे संश्लिष्टः, तत्र पूर्वपदस्य अन्ते वामावर्तं (') विश्लेषचिह्नं प्रयुक्तम्, यथा हि 'वक्तु 'मस्ति' इत्यादि। यत्र परपदस्य आदिवर्णः पूर्वपदे संश्लिष्टः, तत्र परपदस्य आदौ दक्षिणावर्तं विश्लेषचिह्नं प्रयुक्तम्। यथा हि विप्रें'द्र आदि।

(4) ? (सन्देहचिह्नम्)–सर्वेषु सन्देहस्थलेषु प्रयुक्तमिदं चिह्नं, यत्र कस्यचिद् हस्तलेखस्य पाठम् अदत्वा '?' चिह्नमेव अंकितं, तत्र तस्य हस्तलेखस्य पाठः संदिग्धः, अज्ञातः वा। सन्देहस्य कारणं तु प्रायेण संपादकीयटिप्पण्यां द्रष्टव्यम्।

(5) '0' (शेषचिह्नम्, अखिलचिह्नं वा) यत्र कस्यचित् पाठात्परम् '0' चिह्नं दृश्येत, तत्र शेषेषु अखिलेषु अनुल्लिखितेषु कोशेषु अयं पाठः पठ्यते इति ज्ञेयम्।

(6) × (खण्डितं चिह्नम्) मूलपाठस्य एतेन चिह्नेन निर्दिष्टः अंशः हस्तलेखे खण्डितः दृश्यते इति ज्ञेयम्।

(7) = (पाठनिर्माणचिह्नम्) पाठप्रस्तारे यस्मात् पाठात् परं '=' चिह्नं दृश्येत, स पाठः न कस्मिंश्चिद् अपि कोशे, अपितु सम्पादकेन ऊहितः।

(8) ∃ (आधिक्यचिह्नम्)–यत्र मूले धृतपाठाद् अतिरिक्तः श्लोकः, श्लोकखण्डः, शब्दः वा, कस्मिंश्चिद् हस्तलेखे पठितः, तत्र एतस्य चिह्नस्य प्रयोगः। यस्मात्

स्थलात् परम् अधिकः पाठः वर्तमानः, तस्य स्थलस्य निर्देशः '∃' चिह्नस्य वामपार्श्वे कृतः, दक्षिणपार्श्वे तु यः अधिकः पाठः स प्रदर्शितः, प्रक्षिप्तेषु अंशेषु पूर्वं 'प्र' इति अङ्कितं, प्रक्षेपसंख्या अपि दत्ता। इदं चिह्नम् आधुनिकन्यायशास्त्राद् गृहीतम्, तस्य अर्थस्तु—Thiar exists.

(9) < (विकृतिचिह्नम्) अस्य चिह्नस्य वामे स्थितस्य शब्दस्य, वर्णस्य वा, विकृतिः एतस्य चिह्नस्य दक्षिणे निदर्शितः शब्दः वर्णो वा, इति अनुमेयम्।

(10) → (संशोधनचिह्नम्) एतस्य चिह्नस्य वामे स्थितस्य शब्दस्य, वर्णस्य वा, संशोधनं एतस्य चिह्नस्य दक्षिणे निदर्शितः शब्दः वर्णो वा इति अनुमेयम्।

(11) o (लघुमण्डलकं चिह्नम्)—शब्देषु, पदेषु वा संक्षेपः एतेन सूचितः, एतस्य प्रयोगः पदे स्थितस्य कस्यचिदपि अक्षरस्य वामतः, दक्षिणतः, उभयतः वा यथाप्राप्तं क्रियते।

(12) ⊙ (अभावसूचकं चिह्नम्) मूलपाठस्य एतेन चिह्नेन निर्दिष्टस्य अंशस्य हस्तलेखे अभावो दृश्यते इति ज्ञेयम्।

(13) ⊙, + इदं हस्तलेखस्य, संकेताक्षरस्य, दक्षिणे उर्ध्वतः अङ्कितम्। ईदृशेषु स्थलेषु हस्तलेखस्य मूलस्थितिं सूचयितुं तस्य हस्तलेखस्य संकेताक्षरात् परं लघुमण्डलकं चिह्नं प्रयुक्तम्, 'o' लघुमण्डलकेन हस्तलेखस्य आदि-(मूल) स्थितिः निर्दिश्यते, '+' चिह्नेन तस्यैव हस्तलेखस्य परिवर्धिता स्थितिः निर्दिश्यते।

(14) हस्तलेखे संशोधनेन प्राप्ताः एकाधिकाः पाठाः, प्रथमपाठः, द्वितीयपाठः इति कृत्वा ते पाठाः 1, 2, 3 इत्यादिभिः अङ्कैः ज्ञापिताः। एतेषाम् अंकानां निर्देशः तत् पाठसम्बन्धिनः कोशस्य संकेताक्षरस्य शीर्षे दक्षिणतः कर्त्तव्यः। एकस्य एव कोशस्य अनेकानां संशोधितपाठान्तराणां प्रदर्शनस्थलेषु पाठान्तराणामेव दक्षिणे उर्ध्वतः संख्याङ्कनं कर्तुं शक्यते। अस्माभिः ईदृशस्य संशोधनपाठस्य प्रदर्शनाय न हि कोऽपि अवसरः लब्धः।

(15) पा. व्या. = पाठव्याख्या।

द्र0 = द्रष्टव्यम्।

अष्टा. = अष्टाध्यायी।

प्र. = प्रक्षिप्तः।

(16) ⊙-, -⊙-, -⊙ / 1-, -1-, -1—यः प्रारम्भः, प्रवहमानता, परिसमाप्तिः च क्रमेण इत्थं प्रदर्शितम्।

□□□

।। द्वितीयोऽध्यायः।।

4.5.0 अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः विषयानुक्रमणिका

(1) मार्कण्डेयस्य राज्ञश्च संवादोपक्रमः	— 1-4	श्लोकेषु
(2) अयोध्यातीर्थानां माहात्म्योपक्रमः	— 5-6	श्लोकयोः
(3) गोप्रतारमाहात्म्यम्	— 7-11	श्लोकेषु
(4) तिलोदकीतीर्थमाहात्म्यम्	— 12	श्लोके
(5) अग्नितीर्थमाहात्म्यम्	— 13-15	श्लोकेषु
(6) बृहस्पतिकुण्डमाहात्म्यम्	— 16-20	श्लोकेषु
(7) ब्रह्मकुण्डमाहात्म्यम्	— 21-26	श्लोकेषु
(8) कोटितीर्थमाहात्म्यम्	— 27-29	श्लोकेषु
(9) सप्तर्षितीर्थमाहात्म्यम्	— 30	श्लोके
(10) स्वर्गद्वारमाहात्म्यम्	— 31-39	श्लोकेषु
(11) सरयूघर्घरासंगमतीर्थमाहात्म्यम्	— 40	श्लोके
(12) बाल्यखिल्याश्रमतीर्थमाहात्म्यम्	— 41	श्लोके
(13) बिल्वतीर्थमाहात्म्यम्	— 42	श्लोके
(14) गालवतीर्थमाहात्म्यम्	— 42	श्लोके
(15) रामतीर्थमाहात्म्यम्	— 44	श्लोके
(16) जटाकुण्डतीर्थमाहात्म्यम्	— 45	श्लोके
(17) उपसंहारः, फलश्रुतिश्च	— 46	श्लोके

इति अनुक्रमणिका।।

अयोध्यातीर्थप्रशंसा

शृणुष्वा 'वहितो ब्रह्मन् वचनं मे भृगू'त्तम।
यद्वदामि मुनिश्रेष्ठ तत् सर्व्वं क्षन्तु 'मर्हसि ॥1॥

अर्थः—(राजा ने कहा–) हे भृगुवंशियों में श्रेष्ठ मार्कण्डेय जी! हे ब्रह्मन्! आप सावधान होकर मेरी बात सुनें। हे मुनिश्रेष्ठ! जो मैं कहता हूँ, उसे आप क्षमा करेंगे।

पाठान्तरम्—श्लो. 1-4? B M [मित्रमिश्रेण, डॉ. बाकरेण च एते श्लोकाः न उद्धृताः] /a) शृणुष्वा० R, शृणुष्व० s / d) सर्व्वं R, सर्वं S ।

रामस्य चरितं पुण्यं त्वया प्रो'क्तं ममा' धुना ॥2॥

अर्थः— अभी आपने मुझे राम का पुण्य चरित्र सुनाया है।

तस्य रामस्य देवस्य पुरी रम्या सुशोभना।
सरयू-तीर-संभूता अयोध्ये'ति जनैः श्रुता ॥3॥

अर्थः—उस रामदेव की सरयू नदी के तट पर उत्पन्न (विद्यमान) तथा लोगों द्वारा अयोध्या इस नाम से विख्यात अत्यन्त सुन्दर एवं रमणीय नगरी है।

पाठान्तरम्—श्लो. 2, 3-?-B M ।

तस्यां पुर्यां अनेकानि तीर्थानि मुनिसत्तम।
तान्य'हं श्रोतु'मिच्छामि त्वत्तः विप्रें'द्र भो'धुना॥4॥

अर्थः—हे मुनिश्रेष्ठ! (मार्कण्डेयजी) उस नगरी में अनेक तीर्थ हैं। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! उन तीर्थों को मैं आप (के मुखारविन्द) से सुनना चाहता हूँ।

पाठान्तरम्—श्लो. 4? B M / a) पुर्यां O [असन्धितपाठविषये पाठविचारे द्रष्टव्यम्] । d) त्वत्तः=त्वंतः R, त्वं ब्रूहि S, त्वत्तः ∃ यि RS[1] । भो= मे RS [RS योः समर्थितस्य 'त्वत्तः' पाठस्य अनुरोधेन अयं निर्माणपाठः, भो > मे→ 'ब्रूहि··· मे']।

॥ मार्क्कण्डेय उवाच ॥

शृणु राजें'द्र वक्ष्यामि तीर्थानि विविधानि च।
अयोध्यायां सुपुण्यानि सद्यः पापहराणि वै ॥5॥

।। मार्कण्डेय (जी) बोले।।

अर्थः—हे राजन्! अयोध्या में अत्यन्त ही पवित्र तथा शीघ्र ही पापों को नष्ट कर देने वाले अनेक तीर्थ हैं, उन्हें मैं कहता हूँ, आप सुने।

पाठान्तरम्— -?B [बाकरेण न उद्धृतम्]। मार्क्क० RS M । -?- B/a) राजेन्द्र O, राजन् प्र० M / d) हरानि RS ।

न विस्तरेण शक्तिर् मे वक्तु'मस्ति महामते।
संक्षेपात् कथयिष्यामि कानिचित् प्रथितानि वै।।6।।

अर्थः—हे महामते! उन तीर्थों को विस्तार से कहने की शक्ति मुझमें नहीं है। कुछ प्रसिद्ध तीर्थों को ही मैं आपसे संक्षेप में कहूँगा।

पाठान्तरम्— -?-B/ 6c-11 bORS° [दृष्टिप्लुतिः? , एतेन RS योः सनाभिता सिद्धा] ।

यत्र रामो नरव्याघ्रः पद्मपत्रायते 'क्षणः।
कृमिकीटपतंगाद्यैर् जनैस् स्नात्वा जनार्दनः।।7।।

अर्थः— (सातवें, आठवें और नवें पद्यों की क्रिया एक है 'पदं प्राप्तवान्' अतः इन तीनों का अन्वय एक साथ करें। यहाँ **'संदानितक'** नामक पद्य है।

जहाँ पद्मपत्र की तरह दीर्घ नेत्रों वाले पुरुषर्व्याघ्र राम लोगों के साथ स्नान कर कृमि–कीट–पतंगादि सहित (अपने पद को प्राप्त किये)।

पाठान्तरम्— -⊙-RS°/a) व्याघ्र B / d) जनैः=जनैस्, जनै S+B [जनैः > जनै (श्रुतलेखनजन्यप्रमादः?) →जनैः, अतो हि निर्माणपाठः] ।

शंखदुंदुभिनिर्घोषैः स्तूयमानो 'प्सरोगणैः।
दिव्यैः सें'द्रैश् च रुद्रैश् च गंधर्वैः किन्नरैस् तथा ।।8।।

अर्थः—इन्द्र सहित रुद्रों, दिव्यगणों, गन्धर्वों, किन्नरगणों तथा अप्सराओं द्वारा शंख और दुंदुभि की ध्वनि से स्तुति किये जाते हुए (अपने पद को प्राप्त किये।)।

पाठान्तरम्— -⊙-RS°/ 6) ऽप्सरो M/ c-d) दिव्यैः O, देवैः S+/ सेंत्रैः S+/ सेंद्रैश् च रुद्रैश् च गंधर्वैः किन्नरैस्=सेन्द्रैः सरुद्रैश् च गंधर्वैः किन्नरैस् M, सेंत्रैः मुनीं–द्रैश् च गंधर्वैः किन्नरैस् S+, सेन्द्रैश्च गंधर्वैः किन्नरैर् गुह्यकैः B [सरुद्रैश्च >⊙ द्विधा पूर्तिः, BS योः इयमेव व्याख्या 'मुनींद्रै' इति मूलपाठे अपि सम्भाव्यते। किन्तु 'सैद्रैः' अत्र विसर्गैः निर्णयः, 'मुनींद्रैः' मूलपाठे तु 'र' इति अभविष्यत, M कोशः प्राचीनः अपि]।

दिव्यं विमान 'मास्थाय स्वपदं प्राप्तवान् हरिः।
गोप्तार 'मिति तं विद्धि तीर्थाना 'मुत्तमं पदं ।।9।।

अर्थः— दिव्य विमान पर विराजमान होकर श्रीहरि (राम) जहाँ से अपने परम धाम को प्राप्त किये, उसे तीर्थों में उत्तम तीर्थ गोप्रतार नामक स्थान जानो।

पाठान्तरम्— -⊙-RS°/ a) विमानमा॰ O, विमानास्थाय B /b) प्राप्तवान् च पदं हरिः S+ /C) गोप्रतारम् M [अधिकाक्षरमत्र, लोके 'गोप्तार' गुप्तार' वा नाम्ना विख्यातम्, 'गोप्रतार' इति संस्कृताकरणस्य चेष्टा; स तु अपपाठः छन्दोभंगत्वात्, द्र. भूमिका]। इति तं विद्धि O, एतत् S+ [न्यूनाक्षरम्] । d) पदं O, परं S+ ['परं' इति वा मूलपाठः?] ।

तस्य पुण्यफलं यत् स्यात् तच्छृणुष्व महामते ।।10।।

अर्थः— हे महामते! उस गोप्रतार तीर्थ का जो पुण्यफल है उसे (मैं कहता हूँ) आप सुने।

पाठान्तरम्— -⊙-RS°/a) यत् स्यात् O, यस्मात् S+ /b) छृणुष्व O, छृश्चS+, छुष्व B ।

गवां सहस्रं यो दद्याद् ब्राह्मणेभ्यो महामते।
कुरुक्षेत्रे महापुण्ये राहुग्रस्ते दिवाकरे।
देववत्से तदा'प्नोति गोप्तारे स्नानकृन्नरः ।।11।।

अर्थः—हे महामते! राहु के द्वारा सूर्य के ग्रस्त कर लेने अर्थात् सूर्यग्रहण के समय पुण्यकाल के अवसर पर कुरुक्षेत्र में असंख्य गौवों के दान करने का जो फल होता है वह फल गोप्रतार तीर्थ के देववत्स नामक स्थान में स्नान करने से प्राप्त होता है।

पाठान्तरम्—ab-⊙RS+/ C) °पुण्ये O, पुत्रे B/e) देववत्से तदा° O, देवत्वं स तदा° B, तत्फलं समवा॰ M [पाठयोजना अशक्त्या सरलीकरणस्य प्रयासः। 'देववत्से' इति गोप्रतारस्य विशेषणं, तदन्तर्गतः तीर्थविशेषो वा। अथ वा यस्माद् ग्रन्थाद् अयोध्यातीर्थप्रशंसा नरसिंहपुराणे आनीता, तस्य ग्रन्थस्य वक्तृश्रोतृसंवादे 'देववत्से' इति सम्बोधनम्] द्र. भूमिका। गोप्रतारे M [अधिकाक्षरम्] द्र. उपरिष्टात्।

श्लो. 11 ∃ 'इति। तथा गोप्रतारमधिकृत्य महाभारते—

तस्मिंस्तीर्थे नरः स्नात्वा गोप्रतारे नराधिपः।
सर्वपापविशुद्धा'त्मा सर्वपापैः प्रमुच्यते।। M

अर्थः—यह पद्य महाभारत का प्रक्षिप्त है। इसमें गोप्रतार के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि–हे नराधिप! उस गोप्रतारतीर्थ में स्नान करके मनुष्य समस्त पापों से विशुद्धात्मा होकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

टिप्पणी—[अयं श्लोकः महाभारतस्य वनपर्वणः उद्धृतः, अग्रिमैः श्लोकैः अस्य न सम्बन्धः, अत्र डॉ. बाकरः भ्रान्तः]।

ततस् तिलोदकं नाम सदा ब्रह्मर्षि-सेवितं।

ततः स्नात्वा ऽर्च्चयित्वा च विष्णुलोक ऽमवाप्नुयात्।।12।।

अर्थः— गोप्रतार तीर्थ के अनन्तर सदा ही ब्रह्मर्षियों द्वारा सेविंत तिलोदक नामक तीर्थ है। फिर वहाँ तिलोदक तीर्थ में स्नान करके और तत्रस्थ देवताओं की पूजा करके मनुष्य विष्णुलोक को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) तिलोदकं O, तेलोकं B [ति>ते' अनेन मूलग्रन्थे पृष्ठमात्राः, बाङ्ला लिपिः वा, प्रयुक्ता इति अनुमीयते] c) ततस्= ततः B, तत R, तत्र M [ततस् स्ना°>तत स्ना° (श्रुतलेखनजन्यप्रमादः?) → (i) ततः, (ii) तत्र] अर्च्च० O, अर्च० MB ।

चक्रतीर्थे ततस् स्नात्वा पीत्वा तज्जल ऽमुत्तमं।
सर्वपापैर् विनिर्म्मुक्तः सर्वदेवैश् च पूजितः।।13।।

अर्थः—इसके बाद वह चक्रतीर्थ में स्नान कर के और उस तीर्थ के उत्तम जल को पीकर मनुष्य सभी प्रकार के पापों से विनिर्मुक्त और सभी देवों से पूजित होकर (विष्णुपुर को प्राप्त करता है)।

पाठान्तरम्— a) ततः=तत R S B, नरः M [ततः > तत श्रुतलेखनजन्यप्रमादः, B कोशस्य मूले अपि द्वित्वप्रवृत्तिः सिद्धा] । c) विनिर्मुक्तः BM ।

दिव्यं विमान ऽमास्थाय पुरंदरपुरं व्रजेत्।
तत्र भुक्त्वा बहून् भोगान् पुनर्विष्णुपुरं व्रजेत्।।14।।

अर्थः—दिव्य विमान पर बैठकर इन्द्रलोक (अमरावती) में जाता है तथा वहाँ बहुत प्रकार के भोगों को भोगकर पुनः विष्णु लोक में चला जाता है। (यहाँ तेरहवें और चौदहवें पद्यों की क्रिया एक होनें से युग्मक नामक पद्य समझना चाहिये। साथ ही यहाँ क्रिया विधि लिंग की होने से 'जावें या जाना चाहिये' अर्थ होगा, किन्तु मैंने उपर्युक्त अर्थ माहात्म्य कथन की दृष्टि से किया है।)

पाठान्तरम्— b) पुरन्धर B / cd ⊙ R S [दृष्टिप्लुतिः-? अन्यदिव्यलोकेभ्यः पुनः वैकुण्ठं गमनमेव – तुल. श्लो. 18,19]।

अग्नितीर्थे नरः स्नात्वा नरसिंहं च पूजयेत्।
अग्निरूपान्वितो भूत्वा परां गति 'मवाप्नुयात्॥15॥

अर्थः— अग्नितीर्थ में मनुष्य स्नान करके नरसिंह भगवान की पूजा करे तथा अग्निरूप होकर परमोत्कृष्ट गति को प्राप्त करे।

पाठान्तरम्— a) अग्नितीर्थे O, चक्रतीर्थे R S /नरः B M, नर R S, [तुल. 13a इत्यादिकम्] b) नरसिंहश् R S [R S योः अत्यन्तं सनाभित्वम्]।

ततो बृहस्पतेः कुडं तीर्थानां तीर्थ 'मुत्तमं।
तस्य पुण्यफलं यत् स्यात् तद् वदामि समासतः॥16॥

अर्थः—इसके बाद तीर्थों में उत्तम तीर्थ बृहस्पतिकुण्ड है (उसमें स्नान करने का) जो पुण्यफल है उसे संक्षेप में बतलाता हूँ।

पाठान्तरम्— a) कुंडे B / c) °फल R/d) वदामि O, वदानि R S ['वदानि' तु दुरुहः पाठः, किन्तु अत्र प्रमादजन्या विकृतिः संभवा, हस्तलेखसाक्ष्यगौरवेण 'वदामि' इति स्वीकृतः]।

यो नरः प्रात 'रुत्थाय स्नानं कृत्वा विधानतः।
नारसिंह 'मथा 'राध्य तस्मिस् तीर्थे महामते॥17॥

अर्थः—हे महामते! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर इस तीर्थ में विधि विधान से स्नान करके नरसिंह की आराधना करता है (वह स्वर्ग को प्राप्त करता है)।

पाठान्तरम्— c) नरसिंह॰ B /॰ राध्यस् R/d) तस्मिंस्ती॰ O, तस्मस्ती॰ R^1, तस्मिस्ती॰R^2 [अपलिखितं हस्तलेखे]।

गन्धपुष्पादिभिर् न्नित्यं सत्यवादी जिते'न्द्रियः।
स वागीशो भवेत् तत्र पुनः स्वर्ग 'मवाप्नुयात्॥18॥

अर्थः—गन्ध पुष्प आदि से नित्य ही नरसिंह भगवान् की आराधना करता है वह वागीश (बृहस्पति के समान) होता है और फिर स्वर्ग को प्राप्त करता है। (यहाँ भी युग्मक है।)

पाठान्तरम्— a) न्नित्यं BM [RS योः प्रायः द्वित्वप्रवृतिः, M कोशे द्वित्वस्य अभावः, स पुनः संपादककृतः इति संभवः] । d) पुनः O, ततः M [पुनः → ततः? वस्तुतस्तु द्वे अपि समानार्थे]।

दिव्यरत्नविचित्राङ्गो दिव्याभरणभूषितः।
विमानेनाऽर्कवर्णेन नारसिंहपुरं व्रजेत्।।19।।

अर्थः—(वह मनुष्य) दिव्य रत्नों से विचित्र अङ्गों वाला तथा दिव्य अलङ्कारों से विभूषित होकर सूर्य सदृश तेजोमय विमान से नरसिंहपुर (विष्णुलोक) को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— b) देव्या॰ RS [RS योः सनाभिता। पृष्ठमात्रातः, वंगाक्षरतो वा, विकृतिः?] c) ॰नार्कवर्णेन BM /d) नार॰ O, नर॰ BM ['नरसिंहः' तु ऋजुतरः पाठः]।

शतं वर्षसहस्राणि दिव्यया संख्यया ऽनघ।
भुक्त्वा विष्णुपुरे भोग्यान् पुनः सायुज्य ऽमाप्नुयात्।।20।।

अर्थः—हे अनघ (निष्पाप राजन्)! वह मनुष्य विष्णुपुर में देवताओं की संख्या के अनुसार सौ हजार वर्षों (असंख्य वर्षों) तक वहाँ के भोगों को प्राप्त कर पुनः विष्णु सायुज्य प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) शतं O, शत BM ['शत' तु ऋजुतरः पाठः] । c) भोग्यान्=भोग्यान् R, भ्येग्यान् S, भोगान् BM [भोग्यान्=भ्योग्यान्; भोग्यान्→भोगान् (सरलीकरणम्)]।

तस्मात् परतरं राजन् ब्रह्मकुण्ड ऽमिति स्मृतं।
तीर्थाना ऽमुत्तमं तीर्थं तत् फलं श्रणु आदरात्।।21।।

अर्थः—हे राजन! उस नरसिंह तीर्थ से भी उत्कृष्ट, तीर्थों में उत्तम तीर्थ ब्रह्मतीर्थ को कहा गया है। (अब आप) उसके फल को आदरपूर्वक श्रवण करें।

पाठान्तरम्— 21 ⊙ B [दृष्टिप्लुतिः?] /b) स्मृतं O, श्रुतं M [स्मृतं > सृतं (वंगीय-उच्चारणम्) →श्रुतं?] /d) आदरात् = चाद॰ RS, ताद॰ M [असन्धिनिवारणाय पाठान्तरम्। 'शृणुतादरात्' अपि किंचिद् दुरुहत्वाद् मूलार्हः, अत्र किन्तु श्रोतुः एकवचनत्वात् शृणु एव सम्यक् पाठः]।

न विस्तारान् मया वक्तुं शक्यं ते सांप्रतं नृप।
संक्षेपात् कथयिष्यामि तस्य तीर्थस्य यत् फलं।।22।।

अर्थः—(किन्तु) हे राजन्! इस समय मेरे द्वारा आपको विस्तार से नहीं सुनाया जा सकता है। उस ब्रह्मकुण्ड का जो फल है उसे संक्षेप से कहूँगा (आप सुनें)।

पाठान्तरम्— ab) विस्तरान् O, विस्तरात् B [असन्धित्वात् B पाठः एव ज्यायान्, किन्तु 'न' 'त' योः स्वरूपसाम्यात् लिपिप्रमादः अपि संभाव्यः। वक्तुं शक्यं

ते= वक्तुं शक्यते RSB, शक्यं वक्तुं ते M [उपलब्धपाठयोः व्याख्यानाय अत्र निर्माणपाठः। शक्यं ते >शक्यंते→ शक्यते, M कोशे पदव्यत्ययः]। d) तस्या B।

जितें'द्रिया जितक्रोधा रागद्वेषविवर्जिताः।
ब्रह्मकुंडं समासाद्य ये नराः पर्यु'पासते।
ते मुक्तपापा विप्रें'द्र परां सिद्धि 'मवाप्नुयुः॥23॥

अर्थः—हे विपेन्द्र (यहाँ राजा के लिए ही यह सम्बोधन है) जो मनुष्य इन्द्रियों को तथा क्रोध को वश में करके एवं राग-द्वेष आदि से रहित होकर ब्रह्मकुण्ड के पास जाकर उपासना करता है वह सर्वथा पापमुक्त होकर उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) जितक्रोध B /d) पर्युपासते एतंस्य पूर्वे RS योः प्रमादाद् दण्डद्वयं "।।" दत्तम्। अनेन अपि RS योः सनाभिता सिद्धतरा। 'पर्युपासते' S कोशे अपलिखितम्] । e) °पापा O, °पाप R, °मुपाय B / विप्रेंद्र O, विप्रेन्द्र M, राजेन्द्र B [विप्रेंद्र इति संबोधनेन दृढ़ं अनुमीयते यत् तीर्थप्रशंसाध्यायः, तस्य श्लोकाः वा, ग्रन्थान्तरेभ्यः आनीताः। द्र. 11 तमश्लोकस्य पाठप्रस्तारः। ग्रन्थ संगतिचेष्टया 'मुक्तपापविप्रेंद्राः' इति पाठसंशोधनस्य चेष्टा अपि अत्र अनुमेया]।

तस्मिन् कुंडे सकृत् स्नात्वा यो नृसिंहं च पूजयेत्।
दिव्यं विमान 'मारुह्य अप्सरोगण-सेवितः॥24॥

अर्थः—उस ब्रह्मकुण्ड में एक बार (भी) स्नान कर जो मनुष्य नरसिंह भगवान की पूजा करता है वह दिव्य विमान में विराजमान होकर अप्सराओं से सेवित होता हुआ (ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है)।

पाठान्तरम्— b) नृसिंह च M, नृसिंहश्च RS, नृसिंहपय B [अत्रापि RS योः सनाभिता]। c) विमान O, विमानमान S/ °मारुह्य O, °मास्थाय B /d) सेवितः O, संवृतः RS इति लोभनीयः पाठः, परंतु हस्तलेख-साक्ष्यगौरवाद् न गृहीतः] ।

संस्तूयमानो देवैस् तु सिद्धैश् च परमर्षिभिः।
ब्रह्मलोक 'मवाप्नोति ना'त्र कार्या विचारणा॥25॥

अर्थः—देवताओं, सिद्धों और महर्षियों द्वारा स्तुति किया जाता हुआ वह मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। इस विषय में (सन्देह नहीं) विचारणा नहीं करनी चाहिये।

पाठान्तरम्— a) संस्तूयमानोर् B/ देवैस्तु O, देवैश्च M/d) विचारणा B/

ब्रह्मणा कृतसत्कारो बहुकालं नृपात्मज।
ततो विष्णुपुरं गत्वा पुनः सायुज्य 'माप्नुयात्॥26॥

अर्थः—हे नृपात्मज (राजा के पुत्र)! वह मनुष्य ब्रह्मलोक में बहुत दिनों तक आदर सत्कार प्राप्त कर पुनः विष्णुपुर (वैकुण्ठ लोक) में विष्णु सायुज्य प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) सत्कारो O, संस्कारो B/b) बहुकालं O, बहुकाले RM [मन्ये, योजनाशक्त्या अभावेन कृतं पाठान्तरम्, 'ततः' अत्र स्थानवाची न तु कालवाची]।

कोटितीर्थे पुनः स्नातस् सर्वपापैः प्रमुच्यते॥27॥

अर्थः—(इसी प्रकार) कोटितीर्थ में भी स्नान करने से (प्राणी) सभी प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है।

पाठान्तरम्— 26-29 ? B डॉ. बाकरेण न उद्धृताः। a) स्नातस्=स्नातो O, स्नात्वा M/b) नरः पापात् प्रमुच्यते RS [RS योः पाठः संशोधनजन्यः?, कर्तुः विवक्षापूर्तितः 'नरः', अत्र पंचमीविभक्तिः मन्ये संशोधनलब्धा। b-चरणस्य M कोशस्य पाठस्य अस्माभिः ग्रहणाद् अत्र पाठनिर्माणं एव शरणम्; अन्यत्र द्वित्वप्रवृत्तिः। अत्र 'स्नातस्'। स्नात्वा तु सरलीकरणम्; स्नातस् > स्नात→ (i) स्नात्वा; (ii) स्नातः]।

अग्निष्टोमसहस्त्राणि वाजपेयशतानि च।
कर्तुश् च यत्फलं प्रो'क्तं कोटितीर्थंजलाप्लुतः॥
तत् फलं समवाप्नोति सत्य'मेतन् मयो 'दितं॥28॥

अर्थः—सहस्रों अग्निष्टोम यज्ञ करने वाले को, सैकड़ों वाजपेय यज्ञ करने वाले को जो फल कहा गया है उन सभी फलों को कोटितीर्थ में स्नान करने वाला प्राणी प्राप्त कर लेता है—यह मेरे द्वारा सत्य कहा जा रहा है।

पाठान्तरम्— -?-B/a) सहस्राणि O, हेसेस्राणि S / b) वाजयेय S/c) कर्तुश् O, क्रतोश् RS [M पाठः संशोधनकृतः प्रतीयते, न तेन विना किन्तु अवकाशः]।

सुवर्णदान-गोदान अन्नदानेषु यत् फलं।
तत् फलं समवाप्नोति कोटितीर्थजला'प्लुतः॥29॥

अर्थः—सुवर्णदान, गोदान और अन्नदान करने का जो फल होता है वे सभी फल कोटि तीर्थ में स्नान करने वाले को प्राप्त हो जाते हैं।

पाठान्तरम्— -?-B /a) गोदान M/ गोंदान S, मोदान R/b) अन्न॰ R, अत्र S ? धान्य M [असन्धिनिवारणाय इदं पाठान्तरम्, समासे अपि असन्धिः न पाणिनीयविरुद्धः, द्र. भूमिका, अनु. 3.7.13.]।

ततः सप्तर्षितीर्थं तु परमं ऋषिसेवितं।
तस्मिन् तीर्थे नरः स्नात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥30॥

अर्थः—इसके अनन्तर ही ऋषियों द्वारा सेवित महान् सप्तर्षि तीर्थ है। उस तीर्थ में स्नान करके मनुष्य ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

पाठान्तरम्— –? B/a) तु O, च B/b) परममृषि॰ M, [असन्धिविषये तु द्र. भूमिका 3.7.0; तुल. श्लो. 4/ सन्धिकृते M पाठे छन्दःप्रवाहभंगः अपि भूयेत। M कोशस्य ससन्धिपाठः M हस्तलेखे स्थितः, अथ वा, आधुनिकेन ग्रन्थसम्पादकेन कृतः, तन्न शक्यं वक्तुम्]। c) तस्मिंस्तीर्थे M ।

ततः परं प्रवक्ष्यामि स्वर्गद्वारं महापदं ।
सर्व्वदुःखक्षयकरं सर्व्वशान्तिकरं परं ।।31।।

अर्थः—इसके बाद सभी प्रकार के दुःखों का नाश करने वाले एवं सभी प्रकार से शान्ति प्रदान करने वाले सभी तीर्थों में उत्कृष्ट महापद (स्वरूप) स्वर्गद्वार तीर्थ को बतलाता हूँ।

पाठान्तरम्— a) ततः O, अतः B/ b) स्वर्गद्वारं M, स्वर्गद्वार R S B? [पुरस्ताद् द्रष्टव्यम्]। डॉ. बाकरेण b c चरणयोः B हस्तलेखे पाठः इत्थं निदर्शितः– 'सर्वदुष्टवखक्षयकरं शिर्वम्' hiatus। अत्र haituns पदेन किं विवक्षितमिति अस्पष्टम्, इदं पाठान्तरमपि c d चरणयोः प्रतीयते। मन्ये b चरणः दृष्टिप्लुत्या लुप्तः]। सर्व्व R S, सर्व M/d) परं = परम् M, शिवं R S [पा. व्या. परं > ⊙ (दृष्टिप्लुतिः) → शिवं (पूर्तिः)]।

यत् तीर्थं मुनिभिर्देवैः पुरंदरपुरोगमैः।
अप्सरोगणसंयुक्तैर् गंधर्व्वैं किन्नरैस् तथा।।32।।

अर्थः—जो स्वर्गद्वार तीर्थ इन्द्र प्रभृति देवताओं, मुनियों तथा अप्सराओं सहित गन्धर्वों और किन्नरों से सेवित रहता है।

पाठान्तरम्— a) देवैः B M/d) गन्धर्वैः B M ।

यक्षैर् विद्याधरगणैः सेव्यमानं समंततः।
तस्य तीर्थस्य यत् पुण्यं तत् फलं कथयामि ते।।33।।

अर्थः—यक्षों विद्याधरों से पूर्ण रूपेण सेवित है उस (स्वर्गद्वार) तीर्थ का जो पुण्य फल है उसे मैं कहता हूँ। (यहाँ 32 एवं 33 पद्य युग्मक हैं)।

पाठान्तरम्— b) समंहतः R।

न विस्तारान् मया वक्तुं शक्यं तस्य फलं नृप।
तस्मात् संक्षेपतो वक्ष्ये समाहितमनाश् शृणु।।34।।

अर्थः—हे राजन्! उस (स्वर्गद्वार) तीर्थ की महिमा (फल) मेरे द्वारा विस्तार से नहीं कही जा सकती। अतः मैं संक्षेप में उन्हें कहता हूँ। समाहित चित्त होकर आप सुनिये। ('समाहितमनाः' विशेषण वक्ता और श्रोता दोनों में लग सकता है।)

पाठान्तरम्— a) विस्तारान् M/d) मनाश् = मना R S, मनाः B M ।

कपिलां लक्षणो'पेतां सवत्सां गां पयस्विनीं।
ब्राह्मणाय दरिद्राय श्रोत्रिया'हिया'ग्नये।।35।।

अर्थः—कपिला गौ के लक्षणों से युक्त सवत्सा पयस्विनी (दूध देने वाली) गौ को श्रोत्रिय (वेद पढ़ाने वाला ब्राह्मण), अहिताग्निक (अग्निहोत्रीब्राह्मण) तथा निर्धन ब्राह्मण विद्वान् को (दिया जाता है)।

पाठान्तरम्— a) लक्षणोयेतां S ? b) पयस्विनीं O, पयस्वीनाम् B [B कोशस्य मूलादर्शे न पृष्ठमात्रायाः प्रयोगः इति व्यज्यते]। d) O यायहिताग्नये B ।

टिप्पणी—श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ (अमर.2-7-6) श्रीत्रियंश्छन्दोऽधीते इति वा श्रोत्रियन्निपात्यते। गृहे अग्न्याधानकर्ता। अग्निहोत्री-अग्निमचैषीत् इति वाऽर्थः बोद्धव्यः।

यो दद्याद् विदुषे विद्वान् यत् फलं ना'न्त 'मुच्यते।
तत् फलं सम'वाप्नोति स्वर्गद्वारे जला'प्लुतः।।36।।

अर्थः—तथा हे विद्वन्! विद्वान् को भी जो दिया जाता है उसका अनन्त फल प्राप्त होता है। उन सभी फलों को स्वर्गद्वार में स्नान करने वाला प्राप्त कर लेता है।

पाठान्तरम्— a-b) ⊙ R S [अनेन विना अर्थग्रहणं न सम्भवम् । अत्रापि R S योः सनाभिता] । b) = स न याति यमक्षयं B/c) समवाप्नोति O, सर्वमाप्नोति M/d) स्वर्गा॰ S, स्वर्गद्वार B M [स्वर्ग > स्वर्गा। अत्र अस्माभिः अलुक्समासः ऊहितः स्वर्गद्वारे उपस्थितं जलं तेन आप्लुतः इति। जलप्लुतः B । डॉ. बाकरस्य संस्करणेन M कोशस्य पाठः 'जलाप्लुतः' अनुमीयते। अस्माकं तीर्थप्रकाशस्य पुस्तके 'जलाप्लुतः' एव। अत्र तुल. 28 श्लोके 'जलाप्लुतः']।

नरः प्रत्यु'षसि स्नात्वा स्वर्गद्वारे महामते।
तत्र विष्णुं प्रतिष्ठाप्य नारसिंह 'मनामयं।।37।।

अर्थः—हे महामते! जो मनुष्य प्रातःकाल उठकर स्वर्गद्वार तीर्थ में स्नान करके तथा नरसिंह स्वरूपधारी अत्यन्त पावन विष्णु भगवान की प्रतिदिन स्थापना तथा पूजन कर भक्ति करता है वह इस देह का त्याग कर वैष्णव पद प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) प्रत्यूषसि B, मूले धृतपाठः प्रत्यूषसि; न च किमपि पाठान्तरं दत्तम्, तत् सर्वं चिन्त्यमत्र।

पूजयित्वा हरौ भक्तिं 'मुद्वहन् संयतें'द्रियः।
त्यक्त्वा देहं नृपश्रेष्ठ प्राप्नुयाद् वैष्णवं पदं॥38॥

अर्थः—हे नृपश्रेष्ठ! संयत इन्द्रिय होकर श्रीहरि का भक्तिपूर्वक ध्यान करता हुआ अपने पार्थिव शरीर का त्याग करता है तो वह वैष्णव पद को प्राप्त करता है। (यहाँ भी 37–38 पद्य युग्मक हैं)।

पाठान्तरम्— b) उद्वहन् O, उद्वाहन् B। संयतेंद्रियः R, संयतद्रियः S, °तेन्द्रियः M, विजेन्द्रियः B/d) वैष्णवं पदमाप्नुयात् B [उपलब्धपाठान्तराणां व्याख्यानाय अत्र निर्माणपाठः, असन्धिनिवारणमेव पाठान्तरे हेतुः]।

यः स्मरेत् प्रातरु'त्थाय स्वर्गद्वारं नराधिप।
सर्व्वपापविशुद्धात्मा स गच्छेत् परमं पदं॥39॥

अर्थः—हे राजन्! प्रातःकाल उठकर जो स्वर्गद्वार तीर्थ का स्मरण करता है वह सभी पापों से रहित होकर विशुद्धात्मा मनुष्य परमपद को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) ∃ (प्र[1]) नरसिहमनामयं पूजयित्वा हरे देवं B [डॉ. बाकरेण 'हरिं' इति अनुमितम्। हरिं > हरे, वंगीयलिपि, पृष्ठमात्राप्रयोगस्य परिणामः, द्र. भूमिका। केवलं द्वारमेव 'स्मरेत्' इति क्रियायाः कर्म इति अनर्हं मत्वा इदं प्रक्षिप्तम्? b) नराधिपः B/e) सर्वं B M/d) परमं पदं O, परमां गतिम् M।

यस्मिन् वहति संयुक्ता सरयूर् घर्घरेण तु।
तत् संगं उत्तमं तीर्थं गङ्गायमुनयोर् यथा॥40॥

अर्थः—जहाँ (स्वर्गद्वार में) घर्घरा नदी से संयुक्त सरयू नदी बहती है। वह गङ्गा और यमुना के संगम की तरह (घर्घरा और सरयू) संगम उत्तम तीर्थ है।

पाठान्तरम्— a) वहति O, वहंति R S, नहति B/ b) सरयूर् O, सरयू R S [लेखसाक्ष्यगौरवस्तु 'सरयू' पाठस्य पक्षे, किन्तु व्याकरणदृष्ट्या अशुद्धः; श्रुतलेखनादयं प्रमादः, अक्षरावृत्त्या ('र्घ र्घ' वा भ्रमः। c) संगंउत्तमं = संगमुत्तमं M, सर्गं तु महत् B R, सर्गं तु मह S [गृहीतपाठस्तु निर्माणपाठः, असन्धिनिवारणाय पाठान्तरम्। ससन्धिपाठे छन्दसः प्रवाहभंगः। द्र. भूमिका] d) यमुनयो B [यमुनयो इत्यत्र 'र्' भ्रंशः, –मूले असन्धिः ('यमुनयोः') वा]।

बालखिल्या'श्रितं तीर्थं सर्व्वपातकनाशनं।
ततः स्नात्वा नरो गच्छेद् ब्रह्मलोकं सनातनं।।41।।

अर्थः—इसके अनन्तर सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाला बाल्यखिल्य नामक तीर्थ हैं जहाँ स्नान करके मनुष्य सनातन ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।

पाठान्तरम्— 41 ? B [चर्चितः अयं श्लोकः किन्तु न उद्धृतः बाकरेण। द्र. भूमिका]। a) बालखिल्याश्रितं O, लक्षिम्याश्रमं R, लक्षिमित्याश्रमं S [डॉ. बाकरेण B कोशे परिगणितेषु तीर्थेषु 'बालखिल्यतीर्थं' इति नाम उल्लिखितम् (अ. प्र. I.132), तत्र 'बालखिल्याश्रमं' 'बालखिल्याश्रितं' वा इति न ज्ञायते। 'बा' अक्षरस्य भ्रंशाद् लक्षिम्याश्रमं पाठः कल्पितः, अक्षरन्यूनत्वेन 'S' कोशे संशोधितः। R S योः तीर्थानां वैष्णवीकरणमपि सम्भाव्यम्, तुल. श्लो. 41]/ b) सर्वं M / c) गच्छेत् O, गच्छेद् M/ ततः=तत O, तत्र M [B पाठः अज्ञातः, M पाठः सम्पादकेन संशोधितः भवितुं अर्हति—तुल–12a]।

बिल्वतीर्थ'मिति ख्यातं शङ्करायतनं महत्।
तत्र शङ्कर 'मभ्यच्च्र्य स्नानं कुर्यात् तु यो नरः।।
रुद्रलोक'मवाप्नोति विमानेन विराजतः।।42।।

अर्थः—बिल्वतीर्थ भगवान् शङ्कर का महान् निवास स्थान है। वहाँ जो मनुष्य स्नान करके भगवान् शिव की पूजा करता है वह विमान पर विराजित होकर रुद्रलोक को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— a) बिल्व O, विष्नु R S [सरलीकृतः विष्णुतीर्थं इति पाठः, तीर्थानां वैष्णवीकरणं वा तुल. 41। 'बिल्वतीर्थ, तु दुरूहपाठः, अज्ञानात् सरलीकृतः। अत्रापि R S योः सनाभिता। इदं एव तीर्थं परवर्तिपरम्परासु 'बिल्वहरि' नाम्ना स्मृतं (द्र. डॉ. बाकरः II: 62) तत्रापि वैष्णवीकरणस्य प्रवृत्तिः। तुल. पुराणं, तत्र अपि इदमेव तीर्थं निर्दिष्टम्?] 'मिति 'मति B/c) 'मभ्यच्च्र्य=मभ्यर्च्च R S, मभ्यर्च्च M /d) कुर्यात् O, कृत्वा B [बाकरेण B पाठः एव मूले धृतः, तत् चिन्त्यम्। f) 'जता M, जत B, जतः O [मन्ये आकारः दण्डद्वयेन व्यतिभ्रान्त्या भ्रंशितः]।

ततो गालवतीर्थें द्र 'मुत्तमं भुवि विश्रुतं।
तत्र स्नात्वा दिवं प्राप्य गच्छति ब्रह्मणः पदं।।43।।

अर्थः—इसके पश्चात् पृथ्वी पर विख्यात तीर्थराजों में उत्तम, गालवतीर्थ में स्नान करके मनुष्य ब्रह्म पद दिव्लोक को जाता है।

पाठान्तरम्— 43 ? B [चर्चितौ, किन्तु न उद्धृतौ बाकरेण द्र. भूमिका]। a) गालव O, शालव R [डॉ. बाकरेण B कोशस्य तीर्थेषु 'गालव' इति नाम परिगणितम्। द्र.I.132)]। d) गच्छति=गछति O, गच्छन्ति M [मन्ये अक्षरस्य उपरि द्वित्वचिह्नं अनुस्वारं मत्वा कृतं पाठान्तरम्] ब्रह्मणः पदं O, ब्रह्मनिष्कलं M [ब्रह्मनिष्कलं 'इत्येव ग्राह्यः पाठः; दुरुहत्वात्। किन्तु निर्वाणप्राप्तिः; ब्रह्मप्राप्तिः वा, एतस्य ग्रन्थस्य वैष्णवप्रवृत्या अनुकूला न वा इति विचारणीयोऽयं विषयः]।

गोमत्यां रामतीर्थे तु यो नरः स्नान-'माचरेत्।
तत्र विष्णुं प्रतिष्ठाप्य गन्धपुष्पादिभिः क्रमात्।।
आराध्यसिद्धि 'माप्नोति स नरो ना'त्र संशयः।।44।।

अर्थः—जो मनुष्य गोमती के रामतीर्थ में स्नान करे तथा वहीं विष्णु की स्थापना कर गन्धपुष्पादि से क्रमशः आराधन करे तो वह मनुष्य अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं है।

पाठान्तरम्—44-? B/a) गोमत्यां O, गोमत्या S/c) प्रतिष्ठाप्य M, समाराध्य O ['प्रतिष्ठाप्य' दुरूहपाठः, 'समाराध्य' पाठे पुनरुक्तिरपि। 'समाराध्य' अनेन पूर्वप्रतिष्ठितः विग्रहः विवक्षितः, 'प्रतिष्ठाप्य' अनेन पूजकेन मृत्तिका, धातुभिः वा, तीर्थयात्रिभिः पृथक् पृथक् विग्रहनिर्माणं, न किन्तु मन्दिरनिर्माणं व्यञ्जितम्। इदं प्राचीनं विधानं प्रायेण तीर्थमाहात्म्येषु दृश्यते। एतद् अज्ञात्वा एव 'समाराध्य' इति संशोधनम्।

जटाकुंड 'मिति ख्यातं सर्व्वपापहरं शुभं।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च ब्रह्मलोके महीयते।।45।।

अर्थः—सभी पापों का हरण करने वाला शुभप्रद जटाकुण्ड नाम से प्रसिद्ध तीर्थ में स्नान करके और उस तीर्थ के जल को पीकर मनुष्य ब्रह्मलोक की महिमा को प्राप्त करता है।

पाठान्तरम्— b) सर्व्व O, सर्व B M।

तीर्थानि पुण्यानि मया'धुना ते
प्रो'क्तानि राजन् भुवि विश्रुतानि।
शृण्वंति ये तानि नरावराणि
ते यांति विष्णोः पदमत्यु'दारं।।46।।

अर्थः—हे राजन्! सम्प्रति मैंने पृथ्वी पर प्रसिद्ध पुण्यमय तीर्थों का वर्णन किया। जो अधम मनुष्य भी उन प्रसिद्ध तीर्थों का श्रवण करते हैं वे विष्णु भगवान् के उदार परम पद को प्राप्त करते हैं।।

पाठान्तरम्— श्लो. 46 ? M [मित्रमिश्रेण न उद्धृतः]। b) राजन् O, रजन् B/d) विष्णोः O, विष्णो B/ °मत्युदारं O, °त्पुदारं B ['पु' इति 'यु' इत्यस्य एव लेखनदोषः, मकारः तु भ्रंशितः]।

इति श्रीनारसिंहपुराणे आद्ये धर्म्मार्थंकाममोक्षप्रदायिनि परब्रह्मस्वरूपिणि।।

अर्थः—इस प्रकार श्रीनारसिंहपुराण के आदि में धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष प्रदान करने वाले परब्रह्मस्वरूप में ......

पाठान्तरम्—नृसिंह० B। धर्मार्थ B। परं ब्रह्म R S ['पुराणे आद्ये' अत्र त्रिषु कोशेषु असन्धिः एव दृश्यते। डॉ. बाकरेण मृषैव 'आद्य' इति मूलपाठः ऊहितः, 'आद्ये' एव शुद्धः]। प्रदायिनी B। स्वरूपिनी B ['न' 'ण' योः व्यतिभ्रान्तिः मूले वंगीयलिप्याः प्रयोगेण किम् ?]। मित्रमिश्रेण पुष्पिका न उद्धृता, स्वाभाविकं च तत्। R S कोशयोः सम्पूर्णा अपि पुष्पिका एकप्रवाहेण लिखिता। अस्माभिः पाठप्रदानाय, हस्तलेखे प्रयुक्तानां दण्डानां प्रमाणेन च, पंक्तिशः खण्डिता]।

इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा।। न वासुदेवात् पर 'मस्ति किञ्चित्।।'

अर्थः—ये एकमात्र नारायण ही सभी प्रकार से परिपूर्ण और ध्येय हैं। वासुदेव से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

पाठान्तरम्—⊙ B [इयं मन्त्रात्मिका पंक्तिः R S योः नरसिंहपुराणस्य प्रायेण सर्वेषु अध्यायेषु दृश्यते]।

तीर्थप्रशंसा नाम सप्तचत्वारिंशत्तमो'ध्यायः।।

अर्थः—तीर्थप्रशंसा नामक सैंतालीसवां अध्याय।

पाठान्तरम्—प्रशंसा O, पदशंसा B। नामा R B। चत्वारिंशत्तमो O, चत्वांरिंशतमो S, ⊙ B।

□□□

।। तृतीयोऽध्यायः ।।

अयोध्यातीर्थप्रशंसोक्ततीर्थानां समीक्षणम्

5.0.0. बिल्हारघट्टः—अथातोऽयोध्यातीर्थप्रशंसायाम् उद्धृतानाम् अयोध्यायाः तीर्थानां सम्बन्धे विचारयिष्यते। अवधस्य 'गजेटियरे' बिल्हार'घाटस्य वर्णनम्। तत्र गोप्रताराद् आरभ्य बिल्वहरिं यावद् अयोध्याक्षेत्रं वर्णितम्। नरसिंहपुराणान्तर्गत-अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम् उल्लिखितानां तीर्थानां वर्णनेन प्रतीयते यद्, एतस्या एव परम्परायाः अस्मिन् अपि ग्रन्थे उल्लेखः। गोप्रताराद् आरभ्य बिल्वहरिं यावत्, सर्वाणि तीर्थानि सरयुतटे पश्चिमात् पूर्वक्रमेण स्थितानि इति वर्णितानि। अत्रापि स एव क्रमः अनुस्रियते अस्माभिः। अयोध्यायाः तीर्थानां त्रिभिः विभागैः भवितव्यम्–

(1) सरयुतटवर्तितीर्थानि।

(2) सरयुतटस्य दक्षिणभागे स्थितानि तीर्थानि।

(3) सरयुतटस्य उत्तरस्यां, स्थितानि तीर्थानि।

एषु गोप्रतारस्वर्गद्वारतिलोदकीप्रभृतीनि तीर्थानि वर्ण्यन्ते–

5.1.0. गोप्रतारतीर्थम्—'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इति न्यायेन तत्र तीर्थेषु गोप्रतारस्यैव प्राधान्यात् प्रथमं गोप्रतारतीर्थमेव विव्रियते अस्माभिः। अयोध्यातीर्थप्रशंसायां वर्णितेषु इदं पश्चिमसीमायां 'फैजाबादे' सरयुतटे स्थितम्। अस्य उल्लेखः नरसिंहपुराणान्तर्गतायाम्, अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम्, सत्योपाख्याने, जैनसूरिकृते तीर्थकल्पे, अन्येषु च ग्रन्थेषु विद्यमानः।

5.1.1.डॉ. बाकरस्य अनुसारेण इदं तीर्थं त्रिंशदध्यायि-अयोध्यामाहात्म्यस्य सर्वासां पाठशाखायां, पद्मपुराणे, वामनपुराण-रघुवंश-कृत्यकल्पतरु-अध्यात्मरामायण-आनन्दरामायणादिषु च ग्रन्थेषु अपि विद्यमानम्, किन्तु अयोध्यामाहात्म्यस्य BP शाखायाः उभयोः हस्तलेखयोः न विद्यमानम्। डॉ. बाकरेण उल्लिखितं यद् भुशुण्डीरामायणे अस्य नास्ति उल्लेखः (बा., अ. मा. II, पृ. 329) परमिदम्

अनवधानहेतुकम्, भुशुण्डीरामायणे एतदुल्लेखदर्शनात्। अत्र दशरथस्य तीर्थयात्रावर्णने एवम् उल्लिखितम्–

गोप्रतारे नृपः स्नात्वा सहस्राणि चतुर्दश।
ददौ गाश्च सुवर्णानि रत्नानि विविधानि च।।
तमसामवगाह्यासौ पुण्यकर्म नृपोत्तम।
आज्ञापयामास महत् सत्रं ब्राह्मणतुष्टिदम्।। (भु. रा. पृ.110ए श्लोक 95, 96, 97)

5.1.2.उपर्युक्तेन वर्णनेन गोप्रतारं स्वर्गद्वारं चेति द्वे पृथक् पृथक् तीर्थे स्तः। प्रथमं तु इदमस्ति, यद् मध्ययुगीने वाङ्मये अनयोः महान् व्यतिभ्रमो जातः। डॉ. बाकरेणापि चर्चितमिदम्। पुराणविभागस्य रामायण–अध्ययन–शालायाः मतेन वाल्मीकिरामायणस्य पाठभ्रंशाद् अयं व्यतिभ्रमः। रामायणस्य (बड़ौदासंस्करणम्) 1–100:20 श्लोकेन सुस्पष्टं यत्–7.100 : 3ab श्लोकः गोप्रतारस्य विषये एव। तद्यथा–

आययौ यत्र काकुत्स्थः स्वर्गाय समुपस्थितः।।

मध्यदेशीयेषु D 1–5 हस्तलेखेषु, M 10 हस्तलेखे च 'b' चरणस्य पाठे 'स्वर्गाय' इत्यस्य स्थाने 'स्वर्गद्वारं' पाठः अस्ति। रामायणस्य (बड़ौदासंस्करणम्) उत्तरकाण्डस्य सम्पादकस्य मतेन दाक्षिणात्यपाठस्य अपि द्विधा स्थितिः–

(i) प्रचलितदाक्षिणात्यपाठः

(ii) प्राचीनदाक्षिणात्यपाठः च।

5.1.3. M 10 'हस्तलेखः दाक्षिणात्यपरम्परायाः, सुप्राचीनश्च (1513 ई.)। अस्य पाठस्य अनुसारेण स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य विशेषणं भवेत्, अथ वा गोप्रतारं स्वर्गद्वारस्य। एवं स्वर्गद्वारगोप्रतारौ विशेष्यविशेषणे पर्यायवाचिनौ वा स्याताम्। अस्य व्यतिभ्रमस्य पुष्टिः उत्तरकाण्डस्य प्रक्षिप्तांशस्य (1485*) भ्रष्टपाठाद् अधिकं संभाव्या। 1485* श्लोकस्य द्वितीया पंक्तिः एवं पठ्यते–

राघवं तान्यनुनयुः स्वर्गाय समुपस्थितम्।।

अयमंशः N2 VBD1–7, 9–11, 5 हस्तलेखेषु। अतः अस्य पाश्चात्त्यशाखया (कश्मीरीपाठः) सह पूर्वीयमध्यदेशीय–दाक्षिणात्यशाखासु अपि स्थितिः। परन्तु N2 V2 B1, 2, 4 D1–5, 9 M1–6 हस्तलेखेषु 'स्वर्गाय सम्' इत्यस्य स्थाने स्वर्गद्वारम् इति पाठः। M1 हस्तलेखः प्रचलितायाः दाक्षिणात्यपरम्परायाः (लिपिकालः 1690)। रामायण–अध्ययनशालायाः, उत्तरकाण्डस्य सम्पादकस्य च मतेन M6 हस्तलेखो महत्त्वपूर्णः। यद्यपि,–

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः।। (रा. 7.100.101)

इत्यस्मात् श्लोकात् पूर्वं, किन्तु 99 सर्गस्य अन्ते 1485* श्लोकः पठितः। अतः 'स्वर्गद्वार' इति पाठं 'गोप्रतार' इति पाठेन संबद्धुं न युज्यते किमपि काठिन्यम्। एवं 7.100.3, 1485* श्लोकपाठयोः विकृत्या सुस्पष्टं यत् काश्मीरीं शाखां विहाय भारतवर्षस्य अन्यस्यां सर्वस्यामपि रामायणपाठस्य शाखायां गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः व्यतिभ्रमस्य बीजं विद्यमानमासीत्। तथा च, –

'यद् राघवं नानुयाति स्वर्गप्रस्थानमागतम्।। 1485(D)'' श्लोकेनापि त्रयो व्यतिभ्रमाः पुष्यन्ते। V3 D2.9 हस्तलेखेषु स्वर्गप्रस्थानस्य स्थाने 'स्वर्गद्वारमुपागतं, ... मुपस्थितं वा पाठः।' इमौ द्वावपि पाठौ 100सर्गे वर्णितस्य गोप्रतारस्य विषये भ्रान्तिम् उत्पादयितुं शक्नुतः। अध्यात्मरामायणे न हि स्वर्गद्वारः उल्लिखितः, न वा गोप्रतारः। मन्ये, तत्र व्यतिभ्रमः एव मूलं, सुप्राचीनत्वात्।

5.1.4. पौराणिककथायाः अनुसारेण सप्रजः हरिश्चन्द्रः अयोध्यायाः स्वर्गद्वारात् तीर्थात् स्वर्गं गतः, गोप्रतारात् च श्रीरामचन्द्रः। अनेनापि कथासाम्येन उपर्युक्तः व्यतिभ्रमः पुष्यत एव। सुस्पष्टमिदं यत्, यैः गोप्रतारं स्वर्गद्वारमिति अमानि, तैः बहुधा गोप्रतारार्थे स्वर्गद्वारस्यैव उल्लेखः कृतः। मन्ये इदम् एव कारणम् अयोध्यामाहात्म्यस्य BP शाखायां गोप्रतारस्य अनुल्लेखस्य। अन्यथा अयोध्यामाहात्म्ये गोप्रतारस्य अनुल्लेखः सर्वदैव असंभवः, अस्य प्रसिद्धत्वात्।

5.1.5. अथेदानीं गोप्रतारः प्रकारान्तरेण विचारयिष्यते। गहडवालनरेशस्य चन्द्रदेवस्य ताम्रपट्टे एवम् उल्लिखितम्, ''सरयूघर्घराघमर्षणे स्वर्गद्वारनाम्नि तीर्थे स्नात्वा'' (द्र. 'चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखः' पुराणम्, Vol.XXXIII, No.2 July 1992 अङ्के, पृ. 223)। तीर्थकल्पे अपि एवमेव लभ्यते,–''घग्घरदहो सरउनए समं मिलित्ता सग्गदुवारंत्ति पसिद्धिं आवन्नो।'' (द्र. पुराणम्, Vol.XXXIII, No.2 July 1992 अङ्के प्रकाशितः मदीयो लेखः – तीर्थकल्पः, पृ. 200)।

एवं सुस्पष्टम् अत्र सरयुघर्घरयोः संगमस्य स्वर्गद्वारेण सम्बद्धीकरणम्। किन्तु इदमिदानीं भूगोलेन विरुद्ध्यते। असमाधेया प्रहेलिका इयं डॉ. बाकरप्रभृतीनां विदुषां कृते। सरयुघर्घरासंगमः अयोध्यायाः पूर्वम्, अतः सर्वेषु घट्टेषु संगमस्यैव जलं प्रवहमानम् आसीत्, किमुत स्वर्गद्वारे एव। द्वितीये पक्षे स्वीकारे दुर्बलं समाधानमिदम्। सर्वघट्टवर्जं केवलं स्वर्गद्वारे एव अस्य संगमजलस्य वर्णनं कतिपयेषु ग्रन्थेषु किमर्थं कृतम् इति विद्वद्भिः विचारणीयम्।

5.1.6. गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः सांकर्यात् कतिपयेषु ग्रन्थेषु गोप्रतारम् अनुल्लिख्य स्वर्गद्वारस्य उल्लेखः, तथा च वाल्मीकिरामायणस्य विकृतपाठस्य अनुसारेण गोप्रतारस्य स्थाने गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः प्रयोगः पर्यायरूपेण कृतः। अतः संभाव्यते यद् अयोध्यामाहात्म्यस्य, अथ वा अयोध्यायाः तीर्थवर्णनस्य कस्याश्चिद् अपि परम्परायां

गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः प्रयोगः स्यात्। घर्घरसरय्वोः संगमस्यापि वर्णनं तत्र स्वाभाविकम्। डॉ. बाकर–डॉ. एम. सी. जोशी–महोदययोः, 'पौराणिक वाङ्मय में वर्णित अयोध्या' नामकस्य लेखस्य अध्ययनेन सुस्पष्टं यत्, पुरा घर्घरसरय्वोः संगमः गोप्रतारस्य समीपे एव भूतः। अयोध्यातीर्थप्रशंसाकारेण एतादृश्या एव कस्याश्चित् प्राक्तनी–परम्परायाः प्रयोगः कृतः इति सम्भाव्यते। अयोध्यास्थ–घट्टानां वर्तमानस्थितिम् अवलोक्य ग्रन्थकारेण गोप्रतारस्य प्रसङ्गे स्वर्गद्वारस्य वर्णनमपि गोप्रतारात् पृथक् कृतम्। तथा च भ्रान्त्या स्वर्गद्वारेण संगमः संयोजितः। घर्घरासरय्वोः संगमस्य जलं स्वर्गद्वारे प्रवाहितमि'ति उपर्युक्तमेव। मध्यदेशीयैः तथा अयोध्यायाः भूगोलस्थितिविद्भिः विद्वद्भिः एतत् सर्वं कर्तुं सुशकम्। एतेन अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः रचयितुः अपि मध्यदेशीयत्वम् अयोध्यायाः सुविज्ञत्वं च अनुमीयते। एवम् अयोध्यातीर्थप्रशंसायां गोप्रतारं तु यथास्थितं, परन्तु सांकर्यात् सरयुघर्घरयोः संगमस्य वर्णनं स्वर्गद्वारेण संपृक्तम्। डॉ. बाकरः भुशुण्डीरामायणे तथा च नरसिंहपुराणस्य अयोध्यातीर्थप्रशंसायां, स्वर्गद्वारेण सह घर्घरसरय्वोः संगमं न योजितवान्। अत्र स खलु भ्रान्तः। तेन वर्तमानभूगोलवासनया अयोध्यातीर्थप्रशंसा अधीता। अतो न विज्ञातः स्वर्गद्वारसंगमयोः सम्बन्धः। यदि अयोध्यायाः भूगोलेन अपरिचितः कश्चन जनः अयोध्यातीर्थप्रशंसाम् अपठिष्यत् स संगमं स्वर्गद्वारेणैव समयोजयिष्यत्। अनयोः द्वयोः वर्णनमेकस्मिन् एव सन्दर्भे भूतमि'ति निर्विवादम्। एवं **'यस्मिन्वहति संयुक्ता (अ. ती. प्र.)'** इत्यत्र 'यस्मिन्' पदस्य अन्वयः संगमेन न कृत्वा, परवर्तिश्लोकस्य स्वर्गद्वारेण' सह करिष्यन्ति अनेके जनाः। श्लोकस्य श्लोकान्तरेण अन्वयः पुराणेषु प्रसिद्धः एव।

5.1.7. अतः अस्माकं कल्पनायाः अनुसारेण अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः यद् मूलस्रोतः, तत्र स्वर्गद्वारस्य उल्लेखः गोप्रतारार्थे वर्तते, यः संगमे स्थितः आसीत्। तथा चात्र प्रमाणम्—

(i) अयोध्यामाहात्म्यस्य BP शाखायां गोप्रतारस्य उल्लेखः अस्ति, किन्तु घर्घरासंगमस्य नास्ति। डॉ. बाकरस्य अध्ययनेन सिद्ध्यति यद् अयोध्यामाहात्म्यस्य OA शाखायां, S शाखायाः तथा BP शाखायाः, अथ वा तेषां मूलस्रोतसः सामग्र्यः गृहीताः सन्ति। वैचित्र्यमिदमस्ति यद् हरिश्चन्द्रस्य स्वर्गारोहणस्य कथा BP शाखायाः, तत् मूलस्रोतसो वा स्याद् गृहीता। किन्तु उल्लेखनीयमिदं यत् BP हस्तलेखयोः स्वर्गद्वारस्य प्रसङ्गे कथेयम् उपवर्णिता। किन्तु OA शाखायां सा गोप्रतारस्य प्रसङ्गे वर्णिता।

(ii) विसंवादस्य अस्य स्वाभाविकं, सहजं च इदमेव समाधानं भवितुमर्हति यद्, अस्याः कथायाः मूलस्रोतसि स्वर्गद्वारगोप्रतारयोः उल्लेखः पर्यायत्वेन स्याद्भूतः। कालान्तरेण BP शाखायां स्वर्गद्वारस्य प्रसङ्गे गृहीतः, OA शाखा पुनः गोप्रतारस्य प्रसङ्गे इति।

(iii) अत्र इदमपि विवेचयितव्यं यत्, B हस्तलेखे कथेयं चन्द्रहरिमन्दिरेण, अर्थाद् वर्तमानस्वर्गद्वारेण सम्बद्धा, परन्तु एतत्सम्बन्धी श्लोकः (डॉ. बाकरः, अ. मा. II-60, श्लो. 8, पृ. II, 347)P हस्तलेखे; अर्थात् BP शाखायां न विद्यते अतः बह्वी संभावना यद् B हस्तलेखे प्रक्षिप्तः एव स्यात्।

5.1.8. अत्र इदमपि अवधेयं यद् 'गोप्रतारस्य उल्लेखः BP शाखायां नास्ति' इति 'बाकर'माधृत्य मया भणितम्। परन्तु प्रचुरा संभावना खलु बाकरस्य अनवधानतायाः एव विषये अस्मिन्। वास्तविकं त्विदमस्ति यत्, न भवेत् नाम BP हस्तलेखयोः गोप्रतारस्य पृथक्त्वेन उपन्यासः, किन्तु सरयुघर्घरसंगमस्य प्रसङ्गे B हस्तलेखे गोप्रतारमुपवर्णितमेव-

गोप्रतारात् पश्चिमे भागे योजनत्रयसम्मिते।
घर्घरम्बु(राम्बु)तरङ्गौघः सरयुजलसङ्गमः।। अ. मा. II 4.10

श्लोकोऽयमाधुनिकभूगोलस्य अनुसारेण। सः BP शाखायां नाभीष्टः। P हस्तलेखे अस्य अनुल्लेखात् परवर्ती, प्रक्षिप्तश्च सिद्ध्यति। सन्ति चात्र विकल्पाः—

(i) अयोध्यातीर्थप्रशंसायां स्वर्गद्वारगोप्रतारयोः उल्लेखः आधुनिकभूगोलस्य अनुसारेण पृथक् कृतः। किन्तु अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः 8 तमस्य श्लोकस्य 32 तमेन श्लोकेन तुलनायां सुस्पष्टं प्रतीयते एकस्यैव तीर्थस्थलस्य विवेचनम्। सः इन्द्रेण सह गन्धर्व-किन्नर-अप्सरोगणैः सदा सेव्यमानः स्याद्भूतः। अत्रैव स्वर्गप्रयाणोन्मुखस्य श्रीरामस्य स्तुतिः कृता अप्सरोगणैः। अतः प्रबला संभावना यद् एकस्मिन् एव सन्दर्भे उभावपि वर्णितौ स्याताम्। तथा हि-

(ii) परम्परया अपि गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः साम्यम्। गोप्रतारे शरीरत्यागस्य महिमा वर्णितः, एवमेव स्वर्गद्वारे अपि (डॉ. बाकरः, अ. मा. II, पृ. 328 तथा 75)।

एवम् अयोध्यातीर्थप्रशंसायां BP शाखयोश्च मूले स्वर्गद्वारगोप्रतारौ च एकस्यैव तीर्थस्य नाम इति साधितम्। इदं तीर्थं संगमे आसीदिति उपरि एव उक्तम्। अत्रापि किमपि प्रमाणं दीयते। अयोध्यातीर्थप्रशंसायां गोप्रतारस्य माहात्म्यं वर्णयता उल्लिखितम्-

'कुरुक्षेत्रे महापुण्ये राहुग्रस्ते दिवाकरे।।'

अयोध्यामाहात्म्यस्य S शाखायां, OA शाखायां, B हस्तलेखे च घर्घरासरयुसंगमस्य प्रसङ्गे अपि इयमेव शब्दावली उल्लिखिता-

कुरुक्षेत्रे महाक्षेत्रे राहुग्रस्ते दिवाकरे इति।। (अ.मा. II. 411-2)

अतः सुस्पष्टं यद् मूलस्रोतसि संगमे एव गोप्रतारः स्थितः, यः स्वर्गद्वारनाम्ना अपि गीयते स्म। अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम् अयं श्लोकः स्वर्गद्वारस्य प्रसङ्गे निवेशितः, अन्यत्र च संगमस्य प्रसङ्गे। सुसंभाव्यते यत् सत्योपाख्यानस्य,-

'संगमे गोप्रतारे च स्वर्गद्वारे च ते पुनः।।' 42.24

इति श्लोकवद् अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम्, एतादृशः एव कश्चन श्लोकः स्याद्। यः श्लोकः वर्तमानभूगोलस्थितिवासनया विभिन्नाभिः परम्पराभिः नष्टीकृतः।

5.1.9. एवमुपर्युक्तं विवेचनं महत्त्वपूर्णम्। एवमनेन चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखस्य, तीर्थकल्पस्य च समस्यामूलकानां वर्णनानां समाधानं सहजेन संभवि, यदि अस्माकं कल्पना ऋता स्यात्। सुसंभावना यत् नरसिंहपुराणम् आधृत्य एव चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखस्य तीर्थकल्पस्य च रचना स्याद्भूता। एवमतितरां संभाव्यते घर्घरासंगमस्य स्वर्गद्वारेण सम्बन्धः। अत्र इयमपि कल्पना उल्लेखनीया यत् चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखे उद्धृतस्य स्वर्गद्वारस्य तात्पर्यं गोप्रतारेण न, किन्तु वर्तमानस्वर्गद्वारेण, तीर्थकल्पे पुनः नैवम्, उभयोरपि पृथग् उपन्यासात्। स्वर्गद्वारस्य विषये ताम्रलेखकस्य अभिप्रायः स्वर्गद्वारेणैव, न पुनः गोप्रतारेण संभाव्यते। तथा हि,–"भगवतः त्रिभुवनत्रातुर्वासुदेवस्य पूजां विधाय" (द्र. ताम्रलेखः 1.22 पंक्तिः) वर्तमानस्वर्गद्वारे चन्द्रहरिमन्दिरम्। अस्मिन् विषये अयोध्यामाहात्म्ये उल्लिखितम्,–

वासुदेवप्रसादेन तत्स्थानं जातमद्भुतम्।
तद्धि गुह्यतमं स्थानं वासुदेवस्य सुव्रत।।
सर्वेषामेव भूतानां भर्तुर्मोक्षस्य सर्वदा।।

(अ.मा. बाकरसंस्करणम् II. 10.11ab)

अयं श्लोकः अयोध्यामाहात्म्यस्य दशाध्यायि–त्रिंशाध्यायि–शाखयोश्च उपलभ्यते। अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रभावः ताम्रलेखे इति सत्यं, तथापि सुदृढं वक्तुं शक्यते यत् ताम्रलेखे उल्लिखितस्य 'वासुदेवस्य' आशयः चन्द्रहरिमन्दिरेण, स्वर्गद्वारस्य च वर्तमानस्वर्गद्वारेण एव, न पुनः गोप्रतारेण। घर्घरासंगमस्य समाधानं तु उपरि उक्तम्।

एवमुपरि विवेचनस्य अयं निर्गलितोऽर्थः।

(i) अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः रचना श्रीमद्भ्यां चन्द्रदेव–जिनप्रभसूरिभ्यां बहुपूर्वं स्यादिति संभाव्यते। अस्याः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः लोकप्रियता एव अनयोः उल्लेखयोः भ्रान्तेः मूलम्।

(ii) अयोध्यामाहात्म्यस्य रचना श्रीमतः चन्द्रदेवात् प्रागभूत्। अत्र डॉ. बाकरस्य यद् भिन्नं मतं, तन्नानुमन्यतेऽस्माभिः हेतुस्तु स्वर्गद्वारस्य प्रसङ्गे विवेचयिष्यते।

5.1.10. श्लोक 7–11 पर्यन्तं गोप्रतारस्य उल्लेखः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम्। अत्र केवलं माहात्म्यम् उपवर्णितम्। अस्य अनुसारेण सप्रजः श्रीरामः परमं पदं जगाम। सत्योपाख्याने अपि अस्य उल्लेखः पूर्वार्द्धे–24, 25, 27, 28, 35 श्लोकेषु विद्यमानः। 25 तमस्य अध्यायस्य उल्लेखे गोप्रतारः अयोध्यायाः शिरः स्थानीयत्वेन

वर्णितः, अतः परं कंटकस्य उल्लेखः, अनेन सूपपद्यते मत्स्याकृतेः अयोध्यायाः कल्पना, या अयोध्यामाहात्म्यादिषु अपि सुपठिता। 27 तमे श्लोके अयोध्यायाः मुखरूपेण, 28 तमे श्लोके च शिरोरूपेण गोप्रतारस्य चर्चा विद्यमाना। मुखशिरसोः द्वयोः स्थलयोः सङ्केतः, अथ वा एकस्य गोप्रतारतीर्थस्य एव। 'संगमे गोप्रतारे च स्वर्गद्वारे च ते पुनः (24.24)', तथा च अत्रैव तीर्थयात्रायाः दृष्ट्या षट्सु रात्रिषु निवासस्यापि उल्लेखः (25.42)। अत्र इदमपि विचारयितव्यं यत् स्वर्गद्वारगोप्रतारौ भिन्ने स्थाने, अथ वा एकस्य एव तीर्थस्य विशेषणं, नामान्तरं वा। अनयोः तीर्थयोः बहुव्यतिभ्रमाद् अयं विचारः आवश्यकः। उपर्युक्ते उद्धरणे 'संगमे' इत्यस्य अभिप्रायः सरयुघर्घरयोः संगमः एव। अयं पुनः प्राचीनकाले वर्तमानगोप्रतारस्य समीपे एव आसीत्। एवमस्य उद्धरणस्य त्रिधा अर्थः भविष्यति,–

(i) डिण्डिरः साधुभिः सह संगमे, गोप्रतारे, स्वर्गद्वारे च त्रिषु स्थलेषु गतः। अनया कल्पनया संगमस्य गोप्रताराद् दूरे स्थितिः इति सिद्ध्यति। अयोध्यायाः 50 कि. मी. दूरं पश्चिमाशायां पस्कायाः समीपे संगमः (डॉ. बाकरः, अ.मा. 11. पृ. 407)

(ii) डिण्डिरप्रभृतयः गोप्रतारे स्थितं संगमं स्वर्गद्वारं च जग्मुः इति अस्यां कल्पनायां गोप्रतारस्य समीपे संगमस्य स्थितिः आसीत्। द्र. 'पौराणिकवाङ्मये अयोध्या' इति नामको लेखः, एम. सी. जोशी–लिखितः।

(iii) ते स्वर्गद्वारे गोप्रतारनामकं संगमं गताः–इत्येवं कृते अर्थे पुनरपि तिस्रः कल्पनाः संभाव्यन्ते,–

(क) अतिप्राचीनकाले अयं संगमः पूर्वस्यां दिशि वर्तमानस्य स्वर्गद्वारस्य समीपमेव आसीत्।

(ख) वस्तुतः अत्र गोप्रतारस्य संगमस्य एव उल्लेखः, अतो विज्ञायते स्वर्गद्वारं वर्तमानस्य गोप्रतारस्य नामान्तरमेव।

(ग) संगमस्य स्वर्गद्वारेण सह उल्लेखः अवश्यमेव भ्रामकः। भ्रमोऽयं, नरसिंहपुराणस्य परम्परायाः अनुसरणेन जातः। एतद्विषये पूर्वमेव विचारितम् अस्माभिः। अयमेव भ्रमः खलु तीर्थकल्पे, चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखे अपि प्रतीयते।

उपर्युक्तेषु अर्थेषु कः खलु सत्योपाख्यानस्य अभिप्रेतः इति निरूपणीयोऽयं विषयः। सुधियः समादधतु। अस्मिन् प्रसङ्गे गुप्तहरेः स्थितिः अपि अनुपेक्षणीया।

5.2.0. गुप्तहरितीर्थम्—वर्तमानकाले गुप्तहरि–चक्रहर्य्योः मन्दिरं गोप्रतारघट्टस्य दक्षिणभागे स्थितम्। संभाव्यते 'गुप्तहरि'-तीर्थाय एव 'हरिस्मृतिः' शब्दस्य प्रयोगः (अ. मा. II, पृ. 316)। नास्ति उल्लेखः गुप्तहरेः अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम्, वस्तुतस्तु अस्मिन् ग्रन्थे न उल्लेखः तीर्थानां देवायतनानां वा। किन्तु गुप्तहरेः अयोध्यामाहात्म्यस्य

दशाध्यायिशाखायां, त्रिंशदध्यायिशाखायां, भुशुण्डीरामायणे चापि (1.101.45) विद्यते। न पुनः सः विद्यमानः BP शाखायाम्।

5.2.1. सत्योपाख्याने पुनः द्वयोः स्थलयोः अस्य उल्लेखः (सत्यो. II.24.28-30, 27-12-18)सत्योपाख्यानस्य 24 तमस्य अध्यायस्य वर्णनेन सु विज्ञायते यद् श्रीरामस्य अत्रैव गुप्तहरितीर्थे अयोध्यायाः तीर्थयात्रायाः समाप्तिः। 27 तमस्य अध्यायस्य अनुसारेण अत्र श्रीरामेण कार्त्तिकमासि कल्पवासः, पौर्णमासीस्नानं च विहितम्, तदनु पुनः स्वर्गद्वारे। अनेन सुस्पष्टं यद् गुप्तहरिः स्वर्गद्वारं च पृथक् तीर्थे स्तः। किन्तु सत्योपाख्यानस्य 27 तमे अध्याये प्रयुक्तेन स्वर्गद्वारपदेन गुप्तहरिघट्टः (गुप्तारघट्टः) लक्ष्यते अथ वा वर्तमानस्वर्गद्वारः इति तु न सुस्पष्टः। सत्यं यत् सत्योपाख्याने स्वर्गद्वारः गोप्रतारश्च पृथक्त्वेन वर्णितौ। किन्तु गुप्तहरेः वर्णनप्रसङ्गे गोप्रतारः न उल्लिख्यते। अपितु स्वर्गद्वारम् एव तत्र उल्लिख्यते। अत एव संभाव्यते यद् गुप्तहरिप्रसङ्गे उल्लिखितेन स्वर्गद्वारपदेन गोप्रतारः एव विवक्षितः, न तु वर्तमानः स्वर्गद्वारम्। स्वर्गद्वारपदस्य उभयवाचित्वं पूर्वमेवोक्तम् (अनुच्छेद-5.1.3)

5.2.2. अत्र प्रकारान्तरेण अपि विचारयितव्यम्। अयोध्यातीर्थप्रशंसायां 'गोप्रतार'स्य स्थाने 'गुप्तार' शब्दस्य प्रयोगः। एतदर्थं विचारितमपि अस्मिन् निबन्धे। संभाव्यते हि 'गुप्तहरि'शब्दाद् 'गुप्तार' इत्यस्य उत्पत्तिः। अतः गुप्तहरितीर्थेन सम्बद्धो घट्टो गुप्तारघट्टः इति वक्तुं शक्यते। न संभाव्यते यत्पुराकाले गोप्रतारः, गोप्रतारयोग्यं विस्तृतं तीर्थं (घट्टः), तस्य दक्षिणभागे गुप्तहरितीर्थेन सम्बद्धो घट्टः गुप्तारघट्टः इति ख्यातः। गोप्रतारस्य परवर्तिकाले स्वर्गद्वारम् इति पर्यायोऽपि जातः। अत एव सत्योपाख्यानस्य 27 तमे अध्याये गुप्तहरितीर्थेन गुप्तारघट्टो विवक्षितः, स्वर्गद्वारपदेन गोप्रतारः। अत एव 27 तमे अध्याये गुप्तहरेः स्वर्गद्वारस्य च पार्श्ववर्ति-तीर्थरूपेण उल्लेखः। विशेषो विद्वद्भिः विश्लेषयितव्यः।

5.2.3. वर्तमानं गोप्रतारतीर्थं कार्त्तिकमासि स्नानाय सुविख्यातम्। अद्यापि तत् प्रसिद्धमेव। तत्र कल्पवासस्य परम्परा सनातनी। अयोध्या-माहात्म्यस्य त्रिंशदध्यायिशाखायाम् अस्य उल्लेखः (डॉ. बाकरः II. पृ. 328)। गुप्तहरिविषये अपि इयमेव धारणा (बा., II. पृ. 316)। सत्योपाख्यानस्य उत्तरार्द्धे (37.12.18) गुप्तहरेः वर्णनेन पूर्णरूपेण इयं समर्थ्यते। एवमेव गुप्तहरितीर्थस्य उद्भवस्य कथा अयोध्यामाहात्म्ये सुविख्याता। सत्योपाख्यानस्य उत्तरार्द्धे (24.28-30) अस्योल्लेखः विद्यते।

5.3.0. स्वर्गद्वारतीर्थम्—नरसिंहपुराणान्तर्गतायाम् अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम् 31-39 तमेषु श्लोकेषु 'स्वर्गद्वारस्य' वर्णनम्। सत्योपाख्यानस्य पूर्वार्द्धे 16.27-29, 33.38-40, 42.24, 25 तमेषु श्लोकेषु तथा उत्तरार्द्धे 18.19, 80, 25-22,

27.18 तमेषु श्लोकेषु अपि तस्य वर्णनं विद्यते। एतदतिरिक्तम् अयोध्यामाहात्म्यस्य सर्वासु शाखासु, उपशाखासु, स्कन्दपुराणे तथा भुशुण्डीरामायणे अपि तद् वर्णितम् (1.101.35-42)। स्कन्दपुराणस्य अयोध्यामाहात्म्ये वर्णितस्य 'स्वर्गद्वारस्य उल्लेखः जीवगोस्वामिना अपि 'षट्सन्दर्भे' कृतः (द्र. अ. मा. II. पृ. 72)। गोप्रतारवर्जम् अयोध्यायाः प्रायेण इदं सुप्राचीनतीर्थमिति बाकरस्य मतम्। श्रीबाकरस्य मतेन अस्य तीर्थस्य सुप्राचीनः उल्लेखः श्रीमतः चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखे उपलभ्यते (बा. अ. मा. II. पृ. 75)। परं चिन्त्यमिदम्। वाल्मीकीये अस्य उल्लेखः स्पष्टः। अतो गम्यते रामादपि पूर्वतः अस्य तीर्थस्य स्थितिः आसीत्। अस्मिन् विषये किञ्चिद् अधस्ताद् विचारयिष्यते।

गोप्रतार-स्वर्गद्वारयोः महान् संशयः इति उपरि उक्तमेव। अतः गोप्रतार-स्वर्गद्वारयोः उल्लेखे कुत्र वर्तमानगोप्रतारस्य, अथ वा वर्तमानस्वर्गद्वारस्य वर्णनमिति अस्माकम् आवश्यकः विचारविषयः। सौविध्यार्थम् अत्र अस्माभिः वर्तमानं स्वर्गद्वारं चन्द्रहरिघट्टनाम्ना व्यवहरिष्यते। गोप्रतारं च गुप्तहरिघट्टाभिधानेन।

5.3.1. अयोध्यातीर्थप्रशंसायां तीर्थानां विवेचनेन सुस्पष्टं यद् अयोध्यायाः पश्चिमे भागे गोप्रतारं, पूर्वस्मिन् च स्वर्गद्वारं विद्यमानम्। अतः अनयोः महद् अन्तरालम्। यद्यपि अयोध्यातीर्थप्रशंसायां न गुप्तहरेः वर्णनं, न वा चन्द्रहरेः। किन्तु स्वर्गद्वारस्य वर्णनक्रमेण चन्द्रहरेर्वणनमेव ग्रहीतुं शक्यते। किन्तु अतितरां संभाव्यते यद् अयोध्यातीर्थप्रशंसायाः उपजीव्ये मूलग्रन्थे स्वर्गद्वारस्य तात्पर्यं गुप्तारघट्टेन स्याद्, न तु चन्द्रहरिघट्टेन।

सत्योपाख्याने गोप्रतारस्य उल्लेखः विद्यमानः, किन्तु अस्य अभिप्रायः गुप्तहरिघट्टेन स्वर्गद्वारेण वा इति संभावना, या उपरि विवेचिता। साम्प्रतम् अस्माभिः सत्यापाख्यानस्य अनुसारेण 'स्वर्गद्वारस्य' स्थितिः विचारयिष्यते।

5.3.2. अस्मिन् विषये सत्योपाख्यानस्य उल्लेखः महत्त्वपूर्णः (II. 18.19-20)। स्वर्गद्वाराद् नावा सरयूं तरता लक्ष्मणेन स्वर्गद्वारस्य, सहस्रधारायाः, पापमोचनस्य तथा च राजतीर्थादीनां भौगोलिकी स्थितिः वर्ण्यते। अतः अत्र स्वर्गद्वारस्य तात्पर्यं चन्द्रहरिघट्टेन एव। परन्तु सत्योपाख्यानस्य यद् मूलस्रोतः तत्र स्वर्गद्वारस्य तात्पर्यं गुप्तारघट्टेन वा स्याद्। अयोध्यां प्रविशतां पञ्चानां चौराणां पापानि अयोध्यादेव्या नगर्याः बहिः एव प्रतिरोधितानि एकस्य अश्वत्थस्य छायायां स्थितानि (I.34.16)। चौराः पुनः स्वर्गद्वारे स्नात्वा जन्मभूमिं गताः। अयोध्यादेव्याः प्रसादेन इदमेव अश्वत्थस्य स्थानं यमस्थलनाम्ना विख्यातम् (I.35.39-41)। अतः संभावनायाः बाहुल्यं यद् गुप्तारघट्टात् प्राग् यमस्थलस्य स्थितिः आसीत् (बा.अ.मा. पृ. 172)। सत्योपाख्यानस्य वर्णनेन अपि एतत् समर्थ्यते। स्वदूतानाम् उद्धारार्थं यमराजः गोप्रतारं गतः। गोप्रतारम् अयोध्यायाः शिरः, पूर्वस्यां कण्ठकः (अत्र कंटकः पाठः किन्तु 35.39 तमे श्लोके

कंठकः एव) अस्मिन्नेव 'कंठके' स्थाने यमराजः अयोध्यादेवीं स्थानम् अयाचत। अनेन वर्तमाना भौगोलिकी स्थितिः पूर्णरूपेण पुष्यते। इमाः सर्वाः घटनाः अयोध्यायाः पश्चिमे भागे गोप्रतारस्य समीपे उद्भूता। तथा च ते सर्वे पश्चिमभागादेव अयोध्यां प्रविष्टाः आसन्। अतः सम्भाव्यते चौराणां स्वर्गद्वारस्य स्नानं गुप्तारघट्टे एव जातम् (I.34.17–18)। चन्द्रहरिघट्टस्तु अयोध्यायाः सुदूरे पूर्वभागे स्थितः। अत्र अयोध्यायां यमराजस्य आगमनम् अपि लक्षयितव्यम्। प्रथमं यमराजः अयोध्यायाः मुखभागेन एव आगतः। गोप्रतारं च पुर्याः शिरः, स्वर्गद्वारं मुखं, यमस्थलं च कण्ठकम् इति स्वीकृतम्। अनया कल्पनया स्वर्गद्वारं न नामान्तरं गोप्रतारस्य। अपि तु द्वे अपि निकटस्थिते पृथक् तीर्थे। अत्र विद्वद्भिः विमर्शनीयम्।

5.3.3. सत्योपाख्यानस्य मूलस्रोतसि गुप्तारघट्टमेव गोप्रतारं, स्वर्गद्वारं चे'ति अनुमितम् अस्माभिः। एतत् प्रकारान्तरेण अपि समर्थ्यते। उत्तरार्द्धे खलु श्रीरामस्य अयोध्यायात्रा, या सरय्वाः उत्तरे तीरे विहाररूपेण वर्णिता (II. 18.2)। परन्तु कालान्तरेण यात्रारूपेण प्रसिद्धिं गता (II. 24.36.37)। षट्सु रात्रिषु, अर्थात् सप्तसु दिनेषु इयं यात्रा प्रदक्षिण-क्रमेण पूर्णतां गता। अतः इयं साप्ताहिकी परिक्रमा। अत्र किञ्चिद् विचारयितव्यम्।

5.3.4. परिक्रमा यतः आरभ्यते तत्रैव परिसमाप्यते। किन्तु सत्योपाख्याने परिक्रमायाः समारम्भः चन्द्रहरि-(स्वर्गद्वार)-घट्टात्, समाप्तिः पुनः गुप्तहरिघट्टे। अत्र यदि सत्योपाख्यानस्य मूलस्रोतसि, परिक्रमां पूर्णाम् अनुमन्येत। तदा सम्भाव्यते यद्, मूलस्रोतसि गुप्तारघट्टादेव परिक्रमायाः आरम्भस्य, समाप्तेः च विधानं संभावितम्। स्वर्गद्वारगोप्रतारयोः एकत्वम् अविजानता सत्योपाख्यानकारेण स्वर्गद्वाराद् गुप्तहरिघट्टः पृथक् निर्दिष्टः। भ्रश्यते च अनया व्यवस्थया खलु परिक्रमाविधिः। पुनश्च माधुर्योपासनायाः वासनया परिक्रमा-व्यवस्था विहारयात्रारूपेण वर्णिता। आश्चर्यम् इदं यद्, सत्योपाख्यानस्य परिक्रमायां नास्ति गोप्रतारस्य उल्लेखः पृथक्त्वेन। अतः मूलस्रोतसि अनयोः भेदः न स्याद् भूतः इतीदम् अपि अस्माकं कल्पनायाः अवलम्बनम्।

5.3.5. सत्योपाख्यानस्य मूलस्रोतसि वर्णिता अयोध्यापरिक्रमा वर्तमानस्वर्गद्वारेण प्रारब्धा, वर्तमानगोप्रतारेण वा इति एतस्य विवेचनं विद्वद्भिः कर्तव्यम्। स्वर्गद्वारस्य सम्बन्धे सत्योपाख्यानेन निम्नलिखिताः सूचनाः लभ्यन्ते–

(i) एकादश्यां स्नातुं सर्वे देवाः अत्र आयान्ति, दशरथोऽपि स्नातुं याति स्म (सत्यो.,16.27, 28, 29)।

(ii) स्वर्गद्वारे वपनं कार्यम् (सत्यो., 33.38)।

(iii) स्वर्गद्वारे स्नानानन्तरं रामजन्मभूमिः द्रष्टव्याः, विशेषतश्च रामनवम्याम् (सत्यो., 33.38-40)।

(iv) डिण्डिरः साधुभिः सह आगत्य,–'संगमे गोप्रतारे च स्वर्गद्वारे च ते पुनः' इत्येवं रूपेण स्नातः। तिसृषु रात्रिषु उषितः सः। पुनश्च सरयुतटं गच्छता तेन अन्यान्यपि तीर्थानि अवलोकितानि (सत्यो. 42.24-25)। अत्र त्रिरात्रि-निवासेन अनुमीयते यत् निवासस्य कश्चन आसीत् स्थलविशेषः, इति उपर्युक्तस्य श्लोकस्य विभिन्नाः अर्थाः विहिताः। यैः हि तृतीयः अर्थः समर्थ्यते। तैः त्रिभिः शब्दैः एकस्यैव तीर्थस्य वर्णनं विधीयते। तत्रैव तिस्रः रात्रयः अतिवाहिताः डिण्डिरेण। यदि प्रथमः अर्थः समाश्रीयेत तर्हि पृथक् तीर्थत्रयं मन्तव्यम्, प्रत्येकं एकैका रात्रिः अतिवाहिता इति एवम् अर्थे कृते सति 'प्रस्थिताः शरयूतीरं मार्गेणैवान्यतीर्थकम्' (सत्यो. 42.25) निरर्थकं स्यात्, यतो हि वर्तमानभूगोलस्य अनुसारेण एतानि तीर्थानि आ पश्चिमाद् आपूर्वं पृथक् स्थितानि, यत्र गमनेनैव सर्वेषां तीर्थानां यात्रा अनायासेनैव पूर्येत किं पुनः तीर्थान्तरगमनस्य उल्लेखेन। किन्तु अयं विवादस्य विषयः, न हि शक्यते निर्णेतुम् ऐकान्तिकत्वेन अस्माभिः।

5.3.6. अत्र प्रकारान्तरेण अपि विचारयितव्यम्। मन्ये, सत्योपाख्यानकारेण वर्तमानभूगोलस्य अनुसारेण तीर्थं वर्णितं स्यात्। डिण्डिरप्रभृतयः पश्चिमस्थे संगमे एकं दिनं स्थित्वा वर्तमानस्वर्गद्वारम् आगताः स्युः। ततः पुनः तैनैव मार्गेण अन्येषां पूर्ववर्तिनां तटस्थानां तीर्थानां बिल्वहरिप्रभृतीनां अभिमुखीभूताः गताः स्युः, पुनश्च वाल्मीकितीर्थं, यत्र डिण्डिरः तपसा सिद्धिं, मुक्तिं च प्राप्तः इति संभाव्यते। ।

5.3.7. श्रीरामः सीतया सह गुप्तारघट्टस्य (गुप्तहरि) तीर्थयात्रां, कल्पवासं च विधत्ते (सत्यो. 27.11-17)। कार्त्तिकपूर्णिमायां तत्र स्नात्वा पुनः स्वर्गद्वारे स्नाति। स्वर्गद्वारे स्नानमिदं विद्वद्भिः विचारयितव्यम्। मन्ये, ग्रन्थकारेण मूलवर्णनं व्याख्यया विकृतम्। मूले खलु स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य नामान्तरम्। गोप्रतारे कल्पवासप्रसङ्गे पूर्णिमायां स्वर्गद्वारे च स्नानस्य चर्चा स्याद्। एतत् सर्वम् अविचार्य एव ग्रन्थकारेण गुप्तारघट्टे स्नानस्य अनन्तरं पुनः स्वर्गद्वारे स्नानम् उल्लिखितम्। अयोध्यामाहात्म्यस्य वर्णनेन एतत् सर्वं स्फुट्यते। अस्य OA तथा S शाखयोः विस्तृतं वर्णनमस्ति। तत्र चन्द्रहरिघट्टात् (वर्तमानस्वर्गद्वारात्) पृथक् गोप्रतारस्य विशेषरूपेण स्वर्गद्वारस्य उल्लेखः। OA तथा S शाखायोः गुप्तारघट्टे कार्त्तिकस्नानस्य प्रसंगे अयं श्लोकः,-

स्वर्गद्वारे नरः स्नात्वा दशस्वर्णफलं लभेत्॥98॥

(अ.मा. बाकर-सं., अ.मा. II. पृ. 341) S शाखायां श्लोकान्तरमपि,—

स्वर्णदः स्वर्गवासी च यो दद्याच्छ्रद्धयान्वितः।
सुतीर्थे पर्वणि श्रेष्ठे दशस्वर्णफलप्रदे॥99॥

5.3.8. अनेन अनुमीयते यत्, स्वर्गद्वारे 'स्वर्गवासी' पदस्य तात्पर्यं कल्पवासीति, 'पर्वणि' इत्यस्य कार्त्तिकपूर्णिमेति। अतः सुस्पष्टा हि सत्योपाख्यानस्य भ्रान्तिः।

एवम् उपरि विवेचनेन सुस्पष्टः सत्योपाख्याने वर्तमानभूगोलस्य प्रभावः। वर्तमानभूगोलस्य प्रभावेण सत्योपाख्यानकारः प्राचीनं मूलस्रोतः विपरीतं विज्ञातवान्। प्राचीने मूलग्रन्थे स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य पर्यायः। गोप्रतारः एव गुप्तहरिघट्टः, यः मूलग्रन्थस्य रचनाकाले घर्घरासरय्वोः संगमे विद्यमानः आसीत्। मन्ये, स्याद् इयं स्थितिः प्राचीनकाले। परं सु प्राचीनकाले अपि इयमेव स्थितिः इति न शक्यते वक्तुम्। वाल्मीकिसमये स्वर्गद्वारगोप्रतारौ द्वे पृथक् तीर्थे, ये प्रायशः संगमाद् दूरे भूते। अतः प्रायेण वाल्मीकिसमये अपि एतेषां सा एव स्थितिः या हि वर्तमाने। डॉ. बाकरस्य अनुसारेण स्वर्गद्वारस्य सुप्राचीनः उल्लेखः चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखे खलु वित्तः (अ.मा. I. पृ. 75)। अस्य उल्लेखः अयोध्याप्रशंसायाम्, नरसिंहपुराणस्य अयोध्यातीर्थप्रशंसायां च। अयम् आश्चर्यस्य विषयः यत् डॉ. बाकरः वाल्मीकेः रामायणस्य वर्णनक्रमे कथं दिङ्मूढः? वाल्मीकेः पाठक्रमः बडौदासंस्करणस्य अनुसारेण एवम्—

अव्याहरन्क्वचित्किञ्चिन्निश्चेष्टो निःसुखः पथि।
निर्जगाम गृहात्तस्माद्दीप्यमानो यथांशुमान्॥7.99.5॥

ऋषयश्च महात्मानः सर्व एव महीसुराः।
अन्वगच्छन्त काकुत्स्थं स्वर्गद्वारमुपागतम्॥7.99.9॥

ततः सर्वा प्रकृतयो हृष्टपुष्टजनावृताः।
अनुजग्मुः प्रगच्छन्तं राघवं गुणरञ्जिताः॥7.99.14॥

स्नातं प्रमुदितं सर्वं हृष्टपुष्टमनुत्तमम्।
दृप्तं किलकिलाशब्दैः सर्वं राममनुव्रतम्॥7.99.15॥

अध्यर्धयोजनं गत्वा नदीं पश्चान्मुखाश्रितम्।
सरयूं पुण्यसलिलां ददर्श रघुनन्दनः॥7.100.1॥

अथ तस्मिन् मुहूर्ते तु ब्रह्मलोकपितामहः।
सर्वैः परिवृतो देवैर्ऋषिभिश्च महात्मभिः ॥7.100.2॥

ततः पितामहो वाणीमन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥7.100.6॥

तथोक्तवति देवेशे गोप्रतारमुपागताः।
भेजिरे सरयूं सर्वे हर्षपूर्णाश्रुविक्लवाः ॥7.100.20॥

अर्थः खलु स्पष्टः एव। श्रीरामः राजभवनात् निर्गतः। स्वर्गद्वारमागतः। तदनु पुरजनाः अपि आगताः। ते सर्वे स्वर्गद्वारे स्नाताः। तदनन्तरम् अध्यर्धयोजनं पश्चाद् (अथ वा पूर्वीयशाखापश्चिमोत्तरीयशाखयोः पाठस्य अनुसारेण प्रत्यङ्) वाहिन्याः सरय्वाः गोप्रतारनाम्ना सुविख्यातं तटं प्राप्ताः।

5.3.9. उपर्युक्तयोः पाठक्रमस्य अर्थयोः अनुसारेण डॉ. बाकरः 7.99.9 श्लोके वर्णितं स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य विशेषणं कथम् अङ्गीकृतवान् इति न जाने। पाठभ्रष्टतायाः हेतोः वाल्मीकीयरामायणस्य अनेकासु पाठपरम्परासु, अयोध्यामाहात्म्ये तथा अन्यत्र च स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य पर्यायत्वेन स्वीकृतम्। वाल्मीकिरामायणस्य मूलपाठे एतादृशः भ्रमस्य नावकाशः। स्वर्गद्वाराद् गोप्रतारस्य अध्यर्धयोजनं दूरता स्पष्टा। रामायणस्य या वर्तमानकालिक्यः टीकाः, तासु न खलु स्वर्गद्वारस्य पृथक्त्वेन निर्देशः। अत्र हेतू स्तः,

(i) रामायणस्य टीकाकाराणां, विशेषतः दूरवर्तिनां दाक्षिणात्य–टीकाकाराणाम् अयोध्यायाः भूगोलेन अपरिचयः।

(ii) टीकाकारः खलु पाठेन परतन्त्रः। अत्र (7.99.9) कदापि 'उपागतम्' इत्यस्य स्थाने 'अपावृतम्' 'अनावृतम्' वा पाठः आसीत्। अतः पाठपरतन्त्रैः टीकाकारैः परवशतया स्वर्गद्वारं श्रीरामस्य विशेषणत्वेन गृहीतम् (तिलक–शिरोमणिटीकाकारौ)। M 10 हस्तलेखे 'अनावृतम्' पाठः। अध्यात्मरामायणे अपि 'अनावृतमि'त्येव पाठः। तथा हि—

'अनावृतद्वारमिवापवर्गम्। रामं व्रजन्तं ययुरात्मकामाः'।। (7.9.40. अध्यात्मरामायणम् नागेन्द्रनाथसम्पादितम्, कलकत्तासंस्कृतसीरीज NOXI)। अत्र अनुसन्धायकैः टीकाकाराणां, विशेषतः अदाक्षिणात्यपाठस्य टीकाकाराणां पाठः अर्थः च विचारणीयौ। गोप्रतारात् पृथक् तीर्थे सिद्धे अपि स्वर्गद्वारं सरयुतटे स्थितम् न वेति प्रश्नः उदेति। 7.99.15 श्लोकेन प्रतीयते तेषां स्वर्गद्वारे स्नानम्।

(iii) अतः संभावनायाः भूयस्त्वं स्वर्गद्वारस्य सरयुतटे विद्यमानस्य। इयं संभावना अयोध्यासम्बद्धाभिः सर्वाभिः परम्पराभिः पुष्यते। अपि च अयोध्यामाहात्म्यस्य सर्वासु शाखासु, नरसिंहपुराणे, तीर्थकल्पस्य जैनपरम्परायां, चन्द्रदेवस्य ताम्रलेखादिषु च निर्विवादरूपेण सरयुतटे स्वर्गद्वारस्य स्थितिः वर्णिता। वाल्मीकेः वर्णनम् अपि एतदनुकूलमेव। अतः अस्य अर्थान्तरकल्पनम् अवैज्ञानिकं हास्यास्पदं च स्यात्। अपि च गोप्रतारस्वर्गद्वारयोः अध्यर्धयोजनं यावत् पार्थक्यम् आधुनिकभूगोलेन समर्थितम्। अतः मन्ये तत्कालिक–आधुनिकभूस्थित्योः न विद्यमानः कश्चिद्भेदः।

5.3.10. केचन विद्वांसः मन्वते—वाल्मीकेः अनुसारेण सरयुः गोप्रतारे पश्चिमवाहिनी भवेत्, वर्तमानगोप्रतारतीर्थे सरयुः उत्तरवाहिनी, अंशतः पूर्ववाहिनी चेति वक्तुं शक्येत, न पुनः पश्चिमवाहिनीति। तन्न, अर्थावबोधविरहात्। एतद् अधिकृत्य किञ्चित् समाधीयते,–

(1) डॉ. रामशङ्करभट्टाचार्यस्य अनुसारेण 'पश्चात्' इत्यस्य अर्थः विपरीतप्रवहणशीला। दक्षिणपूर्वस्यां प्रवहन्त्य नद्यः अत्र उत्तरवाहिन्यः, पश्चिमवाहिन्यः

वा तत्र 'पश्चान्मुखाः' इति अभिधास्यन्ते। अतः वाल्मीकेः 'पश्चान्मुखाम्' इति पदं गोप्रतारे उत्तरवाहिन्याः वर्तमानसरय्वाः अनुकूलमेव, न तु प्रतिकूलम्।

(2) वाल्मीकेः पूर्वीय-पश्चिमोत्तरीययोः पाठे 'पश्चात्' इत्यस्य स्थाने प्रत्यङ् शब्दः। अतः सु सिद्धं विपरीत-प्रवाहत्वम्।

(3) अनेकेषु अदाक्षिणात्येषु हस्तलेखेषु 'प्रत्यङ्मुखः' 'पश्चान्मुखः' वा पाठः। एवम् अयं रामस्य विशेषणम्। अयमपि पाठः अयोध्यायाः वर्तमानभूगोलमनुसरति, यतो हि स्वर्गद्वाराद् गोप्रतारं गन्तुकामस्य रामस्य पश्चिममुखगमनम् अपेक्षते एव।

(4) रामायण-अध्ययनशालायाः अनुसारेण रामायणस्य भूयिष्ठेषु स्थलेषु दाक्षिणात्यपाठापेक्षया अन्यशाखायाः पाठाः प्रमाणतराः। यद्वा स्यात्, अत्र वाल्मीकेः वर्णनेन वर्तमानभूगोलस्य अविरोधः एव सुतरां सिद्धः, न तु विरोधः।

5.3.11. इदानीं घर्घरासरयुसंगमस्य विचारः अवशिष्यते। अयं संगमः न स्मृतो वाल्मीकीये। अतः प्रतीयते यद् गोप्रतारस्य, स्वर्गद्वारस्य वा समीपे अस्य संगमस्य स्थितिः न आसीत्। साम्प्रतम् अपि इयमेव स्थितिः। यद्यपि अनुल्लेखरूपं प्रमाणं न निर्णायकं भवति, तथापि स्वभावप्राप्तस्य अपि वस्तुनः अनुल्लेखः अवश्यमेव कामपि महत्त्वपूर्णां भूमिकां ख्यापयति। वाल्मीकिना गोप्रतारं पवित्रतीर्थरूपेण वर्णितं, स्वर्गद्वाराद् अस्य दूरत्वम् अपि विस्तरेण ख्यातम्। अतः अवश्यमेव घर्घरासरयुसंगमस्तत्र स्याद्। तदा अस्य अपि वर्णनं स्यात् विधीयेत। एवं गोप्रतार-स्वर्गद्वार-घर्घरा-सरयुसंगमानां च भौगोलिकः इतिहासः निम्नलिखितेषु चरणेषु विभज्यते,—

(1) एतेषां या वर्तमानकालिकी पृथक्त्वेन स्थितिः, सा एव वाल्मीकिकाले अपि।

(2) कस्मिंश्चित् प्राचीनकाले अयं संगमः पूर्वस्यां गोप्रतारम् आगतः। वाल्मीकिरामायणस्य अनेकासु पाठशाखासु पाठः भ्रष्टः जातः, येन स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य पर्यायत्वेन नामान्तरत्वेन वा गृहीतम्।

(3) कालक्रमेण पुनः अयं संगमः स्व-पूर्वस्थानं प्राप्तः। मध्ययुगे स्वर्गद्वारं गोप्रतारस्य विशेषणम्, परन्तु स्कन्दपुराणान्तर्गतस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य, नरसिंहपुराणस्य च पाठक्रमे एव अपि च अयोध्यायाः लौकिकपरम्परायां स्वर्गद्वारं पृथक् तीर्थं स्वीक्रियते। अस्याः स्थितेः पूर्णरूपेण पुष्टिः वाल्मीकिरामायणेन भवति।

(4) डॉ. बाकरस्य, अन्येषां विदुषां च अनुसारेण आ अयोध्यायाः, लङ्काकाण्डं यावत् रामायणस्य अनुसारेण अयोध्या सरयुतटे नासीत्, अपि तु अतिदूरम् आसीत्। किन्तु नायं विषयः चिन्त्यते, मत्तप्रलापप्रसङ्गात्। अपि च रामायणाध्ययनशालायाः अनुसारेण अयोध्याकाण्डात् लङ्काकाण्डं यावद् रामायणे अयोध्यायाः सरयुतटे अस्थितेः प्रश्नः एव न उदेति; एतद्विषयिणी समस्या न केवलं निर्मूला, अपितु प्रमाणविरुद्धा प्रमादजन्या अपि।

5.4.0. तिलोदकीनद्याः रहस्यम्—नरसिंहपुराणे तिलोदकीनद्याः उल्लेखः विद्यते। किन्तु न विद्यते तत्र तिलोदकीसरय्वोः संगमस्य उल्लेखः। तथापि तीर्थानां वर्णनक्रमेण अनुमीयते यद् अयम् उल्लेखः संगमस्य एव। सत्योपाख्याने पुनः न वर्णिता तिलोदकी, प्रत्युत तिलोत्तमाकुल्यायाः वर्णनं विद्यते (सत्यो. II. 26.2) कुल्यापदस्य तात्पर्यं कृत्रिमया अल्पजलवत्या नद्या। 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' (अमरकोषः 1.10.34a b)। अयोध्यामाहात्म्यस्य दशाध्यायी-(पौराणिकी) शाखायां, त्रिंशदध्यायी (प्रकीर्ण) शाखायां च रामेण विनिर्मितायाः तिलोत्तमानद्याः वर्णनम्, तिलोत्तमासरय्वोः संगमस्य चापि वर्णनं विद्यमानम् (बा. अ. मा. II. पृ. 197–98 श्लो. 1–8)। नदीयं तिलवत् कृष्णजला। **तिलवच्छायमुदकम्** (बा., अ. मा. II. पृ. 197–98 श्लोक 9) कथितमत्र। इदमेव कारणमस्याः तिलोदकीतिसंज्ञायाः। श्रीरामेण स्वीयानां सिन्धुदेशोद्भवानां घोटकानां जलपानाय विनिर्मिता इयम् (अ. मा. II. 197–98 श्लो.9)।

अयोध्यामाहात्म्यस्य BP (रुद्रयामल) शाखायां, S (पौराणिकी) शाखायां च तिलोदक्याः, तिलोत्तमायाः वा, नास्ति उल्लेखः। डॉ. बाकरः अस्मिन् प्रसङ्गे भुशुण्डीरामायणं न चर्चितवान्, मन्ये तत्र अस्याः उल्लेखः न स्यात्।

5.5.0. तिलोत्तमातिलोदक्योः ऐक्यम्— सत्योपाख्यानस्य अनुसारेण तिलोत्तमा शेषाचलस्य समीपवर्तिनी। शेषाचलस्य पूर्वभागे गणेशकुण्डं विद्यते (सत्यो. II. 26–2,3)। अयोध्यामाहात्म्यस्य डॉ. बाकरेण उपस्थापिते मानचित्रे शेषाचलः एव मणिपर्वतनाम्ना ख्यातः, तिलोत्तमा पुनः तिलोदकीरूपेण (अ.मा. I. पृ. 16)। प्रणालिकारूपेण इयं मणिपर्वतस्य पश्चिमोत्तरस्यां पूर्वस्यां च दिशि कुटिलेन पथा भ्रमन्ती प्रवहति। साम्प्रतम् इयं फैजाबादस्य दक्षिणपूर्वस्मिन् भागे 'भीखापुरतः' निःसरति। कारनेगी (1870) महोदयेन इयं 'मंगलसी' परगनायाः मध्यभागात् निर्गता इति निर्दिष्टम्। कदापि स्याद् अस्याः अधिकः विस्तारः इति अस्याः उपरि विनिर्मितेन पञ्चचक्रात्मकेन सेतुना प्रतीयते (अ.मा. II. पृ. 195) प्राचीनकाले इयमतीव महत्त्वशालिनीति बाकरस्य अभिमतम्। बाकरस्य इदमपि एकम् संभावितं मतं यद्, सरिदियं 'फैजाबादस्य' पश्चिमभागे 'मंगलसी' 'परगनायां' सरय्वाः एव निर्गच्छति स्म। (अ.मा. II. पृ. 195, 96)।

5.5.1. अयोध्यामाहात्म्यस्य पौराणिक-यामल-शाखारूपस्य, सत्योपाख्यानस्य च परम्परयोः भौगोलिकं तथ्यं प्रति अस्याः निर्देशः चेद् उपर्युक्ता इयं कल्पना रुचिकरी मन्येत। मन्ये, प्रारम्भिककाले तिलोत्तमानाम्नी एका कृत्रिमा कुल्या गोप्रतारस्य पश्चिमभागे कस्मिंश्चित् स्थले सरय्वाः निर्गता सती अयोध्यायाः मध्यभागात् निर्गच्छन्ती

नगरस्य पूर्वस्यां मूलसरय्वा मिलति स्म। इयं तिलोत्तमाकुल्यायाः स्थितिः, स्थितिकालो वेति शक्यते वक्तुम्। अतः परं प्राचीनकाले एव भौगोलिकेन कारणेन सरय्वाः जलं कुल्याभिमुखं प्रावर्तत, अतएव कुल्या महत्याः नद्याः रूपम् अभजत्। एतेषामस्ति किञ्चित् कारणम्; यद् उपरिष्टाद् विवेचयिष्यते।

5.5.2. तदानीं खलु संभावनाप्राचुर्यं, सरय्वाः मुख्यप्रवाहरूपेण अस्याः कुल्यायाः परिणतेः मूलसरय्वाः स्रोतसि जलाभावस्य च इदानीम् अस्माभिः इयं नदी 'उपसरयु'-नाम्ना अभिधातुं शक्यते। कालान्तरेण भौगोलिकं परिवर्तनं सुनिश्चितं मन्यते। अतः पूर्वं प्रवाहवासनया सरयुजलं पुनरपि प्राञ्चं मार्गं जिगमिषु सत् प्राचीनमार्गेण, कुल्यायाः मार्गेण च गन्तुं प्रावर्तत, येन सरय्वाः द्वौ प्रवाहौ जीवितौ स्याताम्–मूलसरयुप्रवाहः, उपसरयुप्रवाहश्च। अनयोर्द्वयोरपि प्रवाहयोः अयोध्यायाः उत्तरभागः मन्ये द्वीप इव मध्ये, स्थितः स्यात्। इयं स्थितिः द्वीपस्थितिः, द्वीपकालः वा अभिधास्यते। प्रवाहस्य परिवर्तनं नाम नदीनां सनातनः धर्मः। क्रमेण उप–सरयुप्रवाहः शुष्कः संजातः, अतः मूलसरय्वाः पृथक् कश्चित् प्रवाहः जातः, यः तिलोदकीनाम्ना विख्यातः। इयं स्थितिः 'तिलोदकीसंज्ञया' मूलरूपम् अवाप्ता। अतः अयोध्यायाः ऐतिहासिकं भूगोलं विकासदृष्ट्या निम्नलिखितेषु चरणेषु अस्माभिः अनुमातुं शक्यते,—

(i) मूलस्थितिः
(ii) तिलोत्तमाकुल्या–स्थितिः
(iii) उप–सरयुस्थितिः
(iv) द्वीपस्थितिः
(v) उत्तरद्वीपस्थितिः
(vi) तिलोदकी / वर्तमानस्थितिः।

उपर्युक्ता इयं कल्पना भूगोलमाधृत्य प्रवर्तते। किन्तु अयोध्यासम्बन्धिनी कल्पना सत्या चेद् अवश्यमेव एतस्य संकेतः अयोध्यायाः वाङ्मये यत्र तत्र प्राप्येत। एतद् अधिकृत्य केचन संकेताः संकलयितव्याः। तिलोत्तमास्थितिः च मूलस्थितेः अनन्तरं विवेचयिष्यते।

5.6.0. उपसरयुस्थितिः—विदुषामनुसारेण अयोध्यायां जनपदस्य प्रमाणम्। तच्च न्यूनातिन्यूनम् ईश्वीपूर्वं 6–7 शतकाद् एव लभ्यते। एवं विभिन्नकालिकानां हिन्दूतीर्थानां, जैनतीर्थानां च अवलोकनेन सुस्पष्टं प्रतीयते तात्कालिकस्य निवासस्य, तीर्थनिर्माणस्य च स्थितिः। स्वाभाविकं च तत्। बुद्धकालिकानां, मौर्यकालिकानां वा बौद्धस्मारकानां स्मृतिचिह्नम् अयोध्यायां लभ्यते। परन्तु आश्चर्यं यत्, वर्तमाननदीतटाद् अतिदूरम् अयोध्यायाः दक्षिणभागे एव। तिलोदकीनद्याः दक्षिणभागे मणिपर्वतस्य क्षेत्रे तत् स्थलं

दृश्यते। अतः अतितरां संभाव्यते तिलोदकी एव सरय्वाः प्रधानधारा स्याद्। अत्र बौद्धविहारस्य निर्माणं जातम्। संभाव्यते बौद्धग्रन्थेषु बुद्धस्य सरयुतटे निवासस्य संकेतः वित्तः। कथ्यते एकदा अवर्धत् सरयुजलम्। बुद्धः स्वस्य अलौकिकेन प्रभावेण तत् जलं शमयामास। अतः नितरां संभाव्यते, मणिपर्वताद् उत्तरस्यां प्रवहमाना उपसरयुः एव इयम्।

5.6.1. संयोगेन, परवर्तिपरम्परायाम् अपि मणिपर्वतस्य समीपे सरयुधारायाः एकं प्रत्यक्षं प्रमाणं सुरक्षितं प्राप्यते। प्रायेण प्राचीनपरम्परायाः अपि कालान्तरीय-परम्परायां भवति स्थितिः। भुशुण्डीरामायणे अपि रत्नाद्रि-सौगन्धिक-पर्वतयोः उल्लेखः विद्यमानः खलु। डॉ. बाकरेण तु अयम् आधुनिकमणिपर्वतरूपेण, तत्रस्थ-कुबेरपर्वतरूपेण च स्वीक्रियते। प्रसङ्गे अस्मिन् अवलोकनीयः भुशुण्डीरामायणस्य एकः श्लोकः—

राजते तत्र रत्नाद्रिः साक्षाद्रत्नमयो गिरिः।
यस्य च्छायां समाश्रित्य सरयू शीतलोदका।।

(भु. रा. 1.102) मणिपर्वतः एकः लघुपर्वतः, अथ वा मृत्तिकोच्चयः? वर्तमानसमये अयोध्यायाः उत्तरस्याम् एतस्य छायायां सरयुः प्रवहमाना इति कथमपि न शक्यते वक्तुम्। अतः उपर्युक्तेन प्रवाहेण बुद्धकालिकायाः सरय्वाः एव संकेतः सुस्पष्टः।

5.6.2. भुशुण्डीरामायणे अस्ति एकं 'सरयुसहस्रनामस्तोत्रम्'। इदं रामायणकारस्य स्वतन्त्रं स्तोत्रम्, अथ वा प्राचीनतरस्य कस्यचित् स्तोत्रस्य रूपान्तरम् इति विद्वद्भिः विचारणीयम्। स्थले स्थले वर्तमानस्य उपयोगाय अविज्ञाता पौराणिकी, भौगोलिकी च परम्परा सुरक्षिता इति अस्माकं सौभाग्यम्। 'सरयुसहस्रनाम'स्तोत्रस्य 121 तमे श्लोके,- 'शेषा शेषगतिः शोष्या शेषपुत्री शशिप्रिया।' इति नामानि मिलन्ति। अत्र शेषाचलः मणिपर्वतः एव। अनेन अपि उपर्युक्तः भूगोलः पुष्यते। शेषाचलस्य अधित्यकायां प्रवहमानायाः सरय्वाः एव इमानि विशेषणानि प्रतीयन्ते। किन्तु बाहुल्येन संभाव्यते यत् सहस्रनामस्तोत्रे द्वीपोत्तरकालिक्याः स्थितेः निदर्शनं उपलब्धं स्यात्।

5.6.3. वाल्मीकिरामायणस्य अपि एकस्य श्लोकस्य ईदृशः एव पाठः। हनुमान् पारेसमुद्रस्य यात्रां वर्णयन् एवं ब्रूते—

प्रत्यक्षमेव भवतां महेन्द्राग्रात्खमाप्लुतः।
उदधेः दक्षिणं पारं काङ्क्षमाणः समाहितः।।

(रामायणम्, बम्बई सं. 5.58.8; बड़ौदा सं.-5.56.7)। अत्र c चरणस्य मूलः पाठः रामायण-अध्ययनशालायाः अनुसारेण निश्चयमेव ईदृशः आसीत्, 'उदधेः उत्तरं पारं (द्र. B1, 4, D6 हस्तलेखः)', अत्र 'उत्तरे' पदे उत्पूर्वकतृधातु-प्रयोगः, कवेः अत्र 'अपरे पारे' इति तात्पर्यं, न तु उत्तरस्यां दिशि। एवं कवेः अभिप्रायम् अविज्ञाय व्याख्यातृभिः काचित् भौगोलिकी विसंगतिः स्वीकृता। इमां प्रातिभासिकीं भौगोलिकीं

विसंगतिम् अपाकर्तुम् अनेकानि पाठान्तराणि जातानि,–$S_1N_1D_2$ 10, 11 अपरं; N2 विस्तरं; V1B2 अन्तर; V2D1, 4 च परं B3 विततमि'ति। दाक्षिणात्यशाखायां भूगोलाधृतम्। तत्र 'उत्तरं' पदमेव परिवर्तितम्। भूगोलेन 'दक्षिणं' इति पाठः च स्वीकृतः। D3 हस्तलेखे अपि 'दक्षिणं' इति पाठः उपलभ्यते,–

दक्षिणं दक्षिणस्यास्य कांक्षन् पारं महोदधेः।।

रामायण–अध्ययनशालायाः अनुसारेण परिवर्तितेन भूगोलेन सह संगतिलाभाय रामायणे यत्र तत्र पाठान्तरं कृतमस्ति। दाक्षिणात्यपाठे तु वाल्मीकिकालिकस्य दक्षिणभारतस्य, लङ्कायाः च भौगोलिकी स्थिति स्व–तत्कालिकभूगोलस्य अनुसारेण परिवर्तिता।

5.6.4. रामायण–अध्ययनशालायाः अनुसारेण बालकाण्डे दशरथस्य अश्वमेधः पुत्रेष्टियज्ञश्च वर्णितौ। ताभ्यां सम्बन्धितः पाठः गम्भीरम् अध्ययनम् अपेक्षते। तत्र विभिन्नानि पाठान्तराणि (बड़ौदा सं. 1.13.1, बम्बई सं. 1.14.1)। तथा हि **'सरय्वाश्चोत्तरे तीरे'** पाठः उपलभ्यते। तथा चात्र प्राप्तेषु पाठान्तरेषु न हि किमपि अर्थान्तरम्। परन्तु बड़ौदासंस्करणस्य–1.11.15 (बम्बई सं.–1.12.16) श्लोके **'सरय्वाश्चोत्तरे तीरे'** पाठः। अत्र पूर्वीयशाखायां,-**'सरय्वाश्च परे पारे'** पाठः, तथा च मध्यदेशीयशाखायां,-**'सरय्वाः सरितः पारे'** पाठः वित्तः। एतेषां पाठानां व्याख्या सु अपेक्ष्यते। अत्र च अस्माभिः रामायणाध्ययनशालायाः अनुसारेण उपस्थाप्यते किमपि समाधानम्।

5.6.5. सुस्पष्टमेव अत्र मध्यदेशीयस्य पूर्वीयस्य च पाठे 'उत्तरे' पदम् अपाकर्तुं चेष्टा। विभिन्नरूपेण चेयं सम्पादिता उपरि। सुन्दरकाण्डस्य एकस्मिन् उदाहरणे 'उत्तरं' पाठस्य भौगोलिकी विसंगतिः प्रातिभासिकी। परम् अत्र प्रायेण यथार्था स्याद् भूता। मन्ये बुद्ध–मौर्यकालः उपसरय्वाः स्थितेः उत्तरवर्तिनी अवस्था। पाठान्तरमिदम् उपसरय्वाः स्थितेः पूर्वकालं व्यनक्ति। प्रथमं, यदा सरयुः तिलोत्तमाकुल्यायाः मार्गेण प्रवाहिता स्याद्भूता, तदा सरय्वाः दक्षिणतटवर्तिजनपदः नष्टप्रायः भूतः स्यात्। अवशिष्टः अपि जनपदः सरय्वाः (वर्तमानतिलोदक्याः) उत्तरे एव। एतस्यां परिस्थितौ अयोध्यायाः उत्तरे भागे काचिद् सरयुः न विद्यमाना। अतः तदा 'सरयुपारः' इत्यस्य अर्थः दक्षिणपारः एव, न तु उत्तरपारः। परन्तु संशोधकैः 'उत्तर' पदं न अपाकृत्य केवलं 'परपार', अथ वा 'पार' पदं कथयित्वा एव भौगोलिकी विसंगतिः दूरीकृता। अनन्तरं सरय्वाः दक्षिणे तटे नवीनः जनपदः स्थितः स्याद्भूतः इति संभाव्यते। मणिपर्वत–कुबेरपर्वतयोः खननेन प्राप्तैः अवशेषैः अपि एतत् समर्थ्यते।

5.6.6. उपर्युक्तायां भौगोलिकी–स्थितौ दक्षिणतः अयोध्यां गन्तुम् सरयु–संतरणं मन्ये आवश्यकम्। परन्तु वर्तमानभूगोलस्य अनुसारेण इदम् नावश्यकम्। किन्तु

उड़ियारामायणे अद्य अपि एतस्य निदर्शनम् इति आश्चर्यविषयः। अस्मिन् विषये अन्यस्य उड़ियारामायणस्य, भारतीयभाषायाः रामायणस्य वा अध्ययनम् उपादेयं भविष्यति। अयोध्यायां प्रवेशसमये यदि सरयुसंतरणस्य वर्णनेन सह अयोध्यायाः उत्तरे अपि सरय्वाः वर्णनं प्राप्यते तदा सा न खलु उप-सरयु-स्थितिः अपितु सरयुद्वीपस्थितेः द्योतको भविष्यति।

5.6.7. अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णशाखायां 'मखस्थलस्य' उल्लेखो विद्यते। अत्र दशरथेन पुत्रप्राप्तये पुत्रेष्टिः अकारि। इदं स्थानं वर्तमानसरय्वाः उत्तरतटे विद्यमानम् (डॉ. बाकरः, अ. मा. II. पृ. 440-44)। अत्र डॉ. बाकरेण भुशुण्डीरामायणस्य एकः सन्दर्भः प्रदत्तः—

ऋष्यशृङ्गश्च भगवान् यत्र त्वत्पुत्रहेतवे।
इयाज भूरियज्ञेन तच्च क्षेत्रं महाफलम्।।
... ...
मखस्थाने नरः स्नात्वा सर्वपापं व्यपोहति।
अश्वमेधादियागानां लभेत्पुण्यं दिने दिने।।

(भु.रा. 1.102.14, 18) अत्र शङ्कते। भुशुण्डीरामायणस्य उल्लेखः सरय्वाः कम् तटं व्यक्तीकरोति उत्तरं, दक्षिणं वा? यतो हि अयोध्यामाहात्म्यस्य परम्परायां 'पुत्रेष्टियज्ञस्य' स्थानं वर्तमान-क्षीरोदकस्थानेन संज्ञितम् (द्र. अ.मा. II., पृ. 243-45)। अयम् अंशः अयोध्यामाहात्म्यस्य पौराणिक-प्रकीर्णयोः उभयोः अपि शाखयोः विद्यमानः, न पुनः विद्यमानः यामलशाखायाम्। डॉ. बाकरस्य मतेन भुशुण्डीरामायणस्य उपर्युक्ते उद्धरणे पुत्रेष्टियज्ञस्य स्थानं वर्तमानसरय्वाः उत्तरे भागे एव। तथापि भुशुण्डीरामायणे वर्णितस्य स्थानस्य वस्तुतः अज्ञाता भौगोलिकी स्थितिः। उद्धरणे अस्मिन् विद्यते नाम विश्वामित्राद् धनुःशिक्षाग्रहणस्य चर्चा, परम् इयं चर्चा न वाल्मीकीये, तत्र तु बलातिबलयोः विद्ययोः ग्रहणस्य उल्लेख अस्ति। तत् स्थलम् अयोध्यायाः अध्यर्धयोजनं पूर्वं सरय्वाः दक्षिणतटे निर्दिष्टम्। परन्तु भुशुण्डीरामायणे भरतशत्रुघ्नयोः अपि उल्लेखः। अतः तत्र अस्य उल्लेखः अस्ति न वेति सन्देहग्रस्तविषयः।

5.6.8. 'मखस्थानाद्' अतिरिक्तम् अपि एकस्याः यज्ञवेदिकायाः, अग्निकुण्डस्य च उल्लेखः (द्र. अ.मा. बाकर सं., II. पृ. 192-94)। यो हि उपसरय्वाः (तिलोदक्याः) उत्तरे क्षीरोदकीस्थलाद् अनतिदूरं च वर्तते। अस्य उल्लेखः केवलम् अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णशाखायामेव। अत्रैव श्रीरामस्य अश्वमेधस्य अपि उल्लेखः। दशरथस्य यज्ञस्थलस्य विषये अस्ति काचिद् भ्रान्तिः। विचारणीयोऽयं विषयः खलु। एकं यज्ञस्थलं वर्तमानसरय्वाः उत्तरे, अपरं च पुनः उपसरय्वाः उत्तरे। वर्तमानसरय्वाः उत्तरे

पारे अश्वमेधस्य, दक्षिणे भागे पुनः पुत्रेष्टियज्ञस्य कल्पना, उपर्युक्तयोः उभयोः समन्वयधिया कृतेति प्रतीयते। परन्तु नास्याः कल्पनायाः संभावना वाल्मीकीये रामायणे। मन्ये, भ्रान्तिरियं सरय्वाः मार्गपरिवर्तनेन स्याद् उद्भूता। इमे स्थले अयोध्यायाः भौगोलिकीं स्थितिं पृथक्त्वेन व्यङ्क्तः। 'मखस्थल'स्य कल्पना मूलसरयुस्थितिं, अथ वा परवर्तिसरयुस्थितिम् आधृत्य कृता। 'यज्ञवेदि' तु रामस्य 'अश्वमेध'स्य अपि स्थलं स्वीकर्तुं शक्यते। किन्तु वाल्मीकिरामायणस्य अनुसारेण यत्र अश्वमेधयज्ञे श्रीसीतायाः भूमिप्रवेशः स खलु नैमिषारण्ये जातः (द्र. वाल्मीकिरामायणम्, बड़ौदा सं.-7.83.4, बम्बई सं.-7.92.4)। अतः प्रायेण संभवं यद् इदं श्रीरामस्य, कस्यापि अन्यस्य वा 'अश्वमेध'यज्ञस्य स्थलं स्यात्। अथवा क्षीरोदकस्थले दशरथस्य पुत्रेष्टियज्ञेन सम्बन्धितस्य 'अश्वमेधस्य' यज्ञवेदिका स्यात् भूता। वर्तमानसरय्वाः उत्तरभागे 'मखस्थलस्य' कल्पनया इयं यज्ञवेदिका श्रीरामेण सम्बद्धा स्याद्भूता। एवं दशरथस्य यज्ञस्थलद्वयं प्रतीयते,—प्रथमं, सरय्वाः उत्तरे मखस्थलम्। द्वितीयं, उपसरय्वाः चोत्तरे क्षीरोदकं तथा यज्ञवेदिका। अथवा केवलं क्षीरोदकम्। एतयोः द्वयोः स्थलयोः व्याख्या उपसरयुस्थित्या सम्पाद्यते।

5.6.9. अयोध्यामाहात्म्यस्य BP (यामल)-शाखायाः एकं वैशिष्ट्यम्। प्रायेण S (पौराणिकी)-शाखायां येषां तीर्थानां वर्णनं, न तद् BP शाखायाम्। एवमेव येषां तीर्थानां वर्णनं BP शाखायां, न पुनस्तद् 'S' शाखायाम्। अतः BP शाखा S शाखायाः पूरिका इति डॉ. बाकरस्य कल्पनायाः विषयः। कल्पना इयं यद्यपि समीचीना तथापि सदोषा, एतद् अधिकृत्य किञ्चिद् उच्यते—

(i) भारतीयपरम्परायाम् उपबृंहणस्य रीतिः, न पुनः ग्रन्थेन ग्रन्थान्तरस्य पूरकस्य। ग्रन्थस्य प्रतिपादित-विषयेण सहैव विशेषविषयस्य समावेशस्य प्रक्रिया खलु अत्र। अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णशाखायाम् अपि एवमेव आचरितम्। तत्र प्रायेण S, BP, इत्युभयोः शाखयोः विषयवस्तु गृहीता तथा च नवीनसामग्री अपि संकलिता। एवं प्रकीर्णशाखा उपबृंहिता शाखा, न तु यामलशाखायाः पूरिका शाखा।

(ii) S, BP इत्युभयोः शाखयोः काचन उभयनिष्ठा सामग्री न, इत्यपि कथनं नातीव रमणीयम्। डॉ. बाकरेण तुलनात्मिका विषयसूची उल्लिखिता, तत्र स्वर्गद्वार-घर्घरासरयुसंगमस्य वर्णनम्, तद् उभयोः शाखयोः लभ्यते (अ. मा. III. पृ. 52-55)। अतः S शाखा BP शाखायाः पूरिका इति अंशतः खण्ड्यते।

5.6.10. अतः अत्यावश्यकम् उपर्युक्तयोः शाखयोः तीर्थानां व्याख्यानम्। तत् खलु व्याख्यानान्तरेण संभाव्यम्। अस्माभिः अत्र उप-सरयुस्थितिम् आधृत्य एका नवीना कल्पना प्रस्तूयते। मन्ये यामलशाखा उप-सरयुस्थितिं व्यनक्ति। पौराणिक्यां शाखायां

मूलसरयुस्थितेः तीर्थानां विवेचनं विद्यमानम्। अतः उभे अपि शाखे पृथक् भूगोलस्य परिणामेन उत्पन्ने। अत्र निम्नलिखितानि प्रमाणानि,—

(i) अस्मत्कल्पनानुसारेण पौराणिकी शाखा यामलशाखायाः पूर्ववर्तिनी स्यात्। OA (प्रकीर्ण) शाखा अर्वाचीना, BP (यामल) शाखा प्राचीनतमा, S (पौराणिकी) शाखा च सु प्राचीनतरा इति डॉ. बाकरस्य अपि अनुमानम्।

(ii) BP (यामल) शाखायाः एकं वैशिष्ट्यम्, तत्र खलु अनवधानं डॉ. बाकरस्य। तिलोदकी एका महत्त्वपूर्णा नदी (बाकरस्य अनुसारेण अपि); एतस्याः उल्लेखः नरसिंहपुराणस्य अयोध्यातीर्थप्रशंसायाम् अपि विद्यमानः। इयं तिलोदकी S (पौराणिकी) शाखायां, OA (प्रकीर्ण) शाखायां च उपलभ्यते, किन्तु न प्राप्यते सा मध्यवर्ति BP (यामल) शाखायाम् इति आश्चर्यकरम्। मध्यवर्तिकालान्तरालेन भौगोलिकं परिवर्तनं संभाव्यमि'ति स्वीकारे सारल्येन एतस्य समाधानम् भवति। अनया कल्पनया गम्यते, तिलोत्तमा तदानीं सरयुं परिगता इति। अतः BP शाखायां तिलोत्तमायाः पृथक्त्वेन वर्णनम् अकृत्वा सरयुरूपम् उपगतायाः सरय्वाः एव वर्णनं कृतम्।

(iii) सम्भावनायाः प्राचुर्यं यत्, सरय्वाः मार्गः वर्तमानसरय्वाः मार्गः इवैव स्यात्; अर्थाद् वर्तमानस्वर्गद्वारात् सरयुः पूर्वं दक्षिणस्यां न वहति स्म, अपितु पूर्वस्यां दिशि एव निर्गता स्यात्। S (पौराणिकी) शाखायां स्वर्गद्वारात् पूर्वदक्षिणस्यां दिशि स्थितानां तीर्थानां प्रायेण न चर्चा, तत्रापि इदमेव कारणम्। सरय्वाः परिवर्तनेन तिलोत्तमा सरय्वां विलीना। अतः सरयुजलं दक्षिणेन प्रवोढुम् आरब्धम् एवं तिलोदकीसंगमात् पूर्वस्यां स्थितानां तीर्थानाम् उत्पत्तिः। तानि चेमानि, बिल्वतीर्थ–वाल्मीकितीर्थादीनि। BP (यामल) शाखायां इमानि तीर्थानि वर्णितानि, किन्तु तानि S (पौराणिकी) शाखायां न चर्चितानि। अतः अस्माकं कल्पना पुष्यते।

(iv) BP (यामल) शाखायां सरयुसंगम–गोप्रतारा–(स्वर्गद्वार)–भ्यां च पूर्वस्यां दिशि वर्तमानात् तिलोदकीसंगमात् पश्चिमाशायां च कस्यापि तीर्थस्य नोल्लेखः। अतः सुस्पष्टः, सरय्वाः मार्गस्य परिवर्तनेन तत्र जलाभावः, तीर्थानां विलीनता च। तदानीं गोप्रतारपर्यन्तम् अवश्यमेव जलं प्राप्यते स्म। यतो हि गोप्रतारं तत्कालिकयोः सरयुसंगम–तिलोत्तमायाः सरय्वाः निर्गमनस्थलयोः समीपभूतम्।

5.6.11. अत्र प्रश्नः, तत्कालिकस्य सरयुघर्घरासंगमस्य, तत्समीपस्थायाः तिलोत्तमाकुल्यायाः निर्गमनस्य, वर्तमानस्य तिलोदकीसरयुसंगमस्य च यत् स्थलं, तत्र एका नूतनधारा प्रवाहिता भूता। तत्र नवीनानां तीर्थानां वर्णनं BP (यामल) शाखायां कुतः न? सुस्पष्टं कारणं खलु एतस्य। तदा प्राचीन–तिलोत्तमाकुल्यायाः उत्तरस्याम् अधिकानि प्राचीनानि तीर्थानि जलाप्लावितानि भूतानि स्युः। संभवतः तस्याः दक्षिणतटे स्थितानि उच्चैः मणिपर्वतप्रभृतीनि स्थलानि एव स्थितानि भूतानि स्युः। स्थितिः इयं बुद्धमौर्यकाले

स्याद्भूता। अयोध्यायां बौद्धकाले विकसितानि तीर्थानि बौद्धतीर्थानि। अतः वैदिकपरम्परायां विरचिते यामले अस्य उल्लेखः न अस्वाभाविकः, किन्तु उपसरयुधारायाः उत्तरे स्थितायाः रामजन्मभूमेः एव उल्लेखः यामलशाखायाम्। कालक्रमेण बौद्धधर्मः विलुप्तिं गतः। तत्कालिकानां बौद्धतीर्थानां स्मृतिः अपि जनमानसात् तिरोहिता। परवर्तिकाले सरय्वाः प्राचीनः मार्गः अनुसृतः, बौद्धतीर्थप्रदेशः च जलरहितः जातः। पुनः च सनातनधर्मावलिम्बिभिः वैदिकैः प्राचीनतीर्थानाम् उद्धाराय चेष्टा सुसंभवा स्याद्भूता। अतः अवश्यमेव बौद्धवैदिकायोः विरोधः जातः। प्रसिद्धयात्रिणा 'फाहियानेन' चर्चितः दन्तधावन-वृक्षेण सम्बन्धितः प्रसिद्धः विवादः अस्य साक्षात्-प्रमाणम्।

(i) अत्र स्मर्तव्या, अयोध्यामाहात्म्ये, 'B' हस्तलेखे स्वर्गद्वारं चन्द्रहरिघट्टेन मेलयितुं चेष्टा, किन्तु न उपलभ्यते सः अंशः P हस्तलेखे। अतः BP (यामल) शाखायां गोप्रतारेण तात्पर्यं खलु स्वर्गद्वारस्य (द्र. गोप्रतारस्य विवेचनम्)। यामलशाखायां वर्णिता उपसरयु-स्थितिः तावत्कालं स्वर्गद्वारात् पूर्वस्यां, वर्तमानतिलोदकीसंगमात् पश्चिमोत्तरस्यां स्थितानां सरय्वाः घट्टानाम् उत्पत्तिः न हि आसीत्। कालेऽस्मिन् वर्तमानतिलोदकीसंगमात् पूर्वस्यां स्थितानां घट्टानां जनिः अभूत्। गोप्रतार-वर्तमानस्वर्गद्वारयोः घट्टाः विलीनतां गताः।

(ii) अतः अयोध्यामाहात्म्यस्य BP (यामल) शाखायाः उत्पत्तेः कारणं विविधैः प्रमाणैः निश्चेतुं शक्यते। भौगोलिक-परिवर्तनेन पौराणिक-परम्परा प्राचीन जाता। अतएव सा तत्कालिकभूगोलेन असंगता, व्यवहारे निरर्थका च जाता। अतः अनुभूता नूतनस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य रचनायाः आवश्यकता। कार्यमिदं BP (यामल) शाखया सम्पादितम्। अस्यां पौराणिकपरम्परायाम् रामजन्मभूमेः अपि स्थानं अविद्यमानम् जातम्। अनन्तरम् उभयोः परम्परयोः समन्वयः सञ्जातः, यो हि स्वाभाविकः।

6.0.0. द्वीपस्थितिः—भौगोलिकं परिवर्तनं सनातनम्। एवं सत्यपि सरय्वाः प्रवाहः स्वकीये मूलस्वरूपे स्थितः आसीत्। अवश्यमेव परिवर्तनमिदं क्रमेण जातम्। मूलसरय्वां जलागमः सञ्जातः, यः खलु पूर्णरूपं बभार, इतः उपसरयुस्थितिः च कृशताम् अवाप्ता। अतः सुस्वाभाविकं द्वीपस्थितेः निर्माणम्। एते विषयाः उपरि विचारिताः। यदि चेद् उपयुक्ता उप-सरयुस्थितेः कल्पना, तदा प्रत्यक्षसिद्धा तिलोदकीस्थितिः (वर्तमानस्थितिः) विशुद्धरूपेण सिद्ध्यति। अत्र अन्यानि अपि प्रमाणानि उपलभ्यन्ते, तथा हि—

6.1.0. द्वीपस्थितौ साक्ष्यम्—'श्रीरामब्रह्मानन्द'नाम्ना (18 तमी शताब्दी) विदुषा रामकथायाः उपासनायाः च परम्पराणां सङ्ग्रहः कृतः। (द्र. डॉ.वी.राघवन्महोदयस्य- '**The Tattvasamgraharāmāyaṇa**' पुराणम्, जुलाई अङ्कः 1990) श्रीरामब्रह्मानन्दस्य तत्त्वसङ्ग्रहरामायणस्य विषयवस्तूनां सूची डॉ.

राघवन्महोदयेन स्वलेखे प्रदर्शिता। अत्र अयोध्यायाः सरयुद्वीपस्य साक्षाद् उल्लेखः। 433 पृष्ठे डॉ. राघवन्महोदयेन अस्य ग्रन्थस्य 13 तमस्य सर्गस्य विषयवस्तु वर्णयता लिखितम्–

"Description of Ayodhyā of Sarayū"

"It may be noted that on the Sarayū is mentioned as island called Śrīranga. This is evidently, according to this story, the proprototype of the South Indian Śrīranga, the shrine where the deity Ranganātha which was the family deiity of Rāma is said later to be left by Vibhisana."

अयोध्यायाः वर्णनस्य अन्तर्गतम् इदं वर्णनम्। सुस्पष्टं यद् वर्णनानुसारेण अयोध्या द्वीपरूपेण स्थिता स्याद्। अथ वा (अस्माकं कल्पनानुसारेण उत्तरीयः अंशः) तस्याः अयोध्यायाः एकः अंशः द्वीपरूपेण स्याद्भूतः। इदं द्वीपं सरय्वाः मूलधारायाः उपसरय्वोः च मध्ये स्याद्भूतः।

6.1.1. श्रीरामब्रह्मानन्देन श्रीरङ्गनाथस्य मन्दिरस्य उल्लेखः दाक्षिणात्य-परम्परानुसारेण कृतः। वस्तुतः वाल्मीकिरामायणस्य परम्परायां जगन्नाथनाम्ना अस्य उल्लेखः। उत्तरकाण्डे (द्र. बडौदासंस्करणम् 1466*) प्रक्षिप्तांशे रामेण विभीषणाय प्रदत्तस्य श्रीजगन्नाथविग्रहस्य चर्चा दृश्यते,–

आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।
आराधनीयमनिशं देवैरपि स वासवैः।।

(बड़ौदा–1466*), बम्बई–7.108.27cd-28ab) बडौदासंस्करणस्य कस्मिंश्चिदपि हस्तलेखे रङ्गनाथस्य न वित्तः उल्लेखः। अत्र तिलकटीकाकारेण उच्यते,–'**अत्र स्थाने पाद्मे विशेषः,**'

तावद्रमस्व राज्यस्थः काले मम पदं व्रज।
इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै स्वविश्लेषासहिष्णवे।।
श्रीरङ्गशायिनं स्वार्चामिक्ष्वाकुकुलदैवतम्।
रङ्गविमानमादाय लङ्कां प्रायाद्विभीषणः।।

शिरोमणिटीकाकारः अत्र ब्रूते,–'**इक्ष्वाकुकुलदैवतमतएव देवैरप्याराधनीयं जगन्नाथं त्वमाराधय। एतेनाराधनसमये सदैव मा द्रक्ष्यसीति सूचितम्।**' इति। अमुम् अर्चयन् मां द्रक्ष्यसीति एतस्य समर्थनं पद्मपुराणस्य— '**स्वविश्लेषासहिष्णवे**' इति चरणेन जायते। अत्र तथ्यद्वयं स्फुट्यते,-जगन्नाथः इक्ष्वाकूणां कुलदेवता आसीत्। तथा च रामेण सह जगन्नाथस्य आसीत् तादात्म्यम्। जगन्नाथः मूलतः अयोध्यायाः देवता,

पौराणिकपरम्परया अपि एतत् स्फुट्यते। (द्र. डॉ. रा.शं. भट्टाचार्यस्य पौराणिकः लेखः)। आनन्दरामायणे अपि इदं प्रतिबिम्बितम्। न हि केवलं रामस्य जगन्नाथेन सह सम्बन्धः, अपितु-'अयोध्यावासिनः सर्वे जगन्नाथस्य मूर्तयः।।' सत्यो. 1.12.5)। अन्येन अपि प्रकारेण अयोध्यायाः जगन्नाथेन सम्बन्धः ज्ञाप्यते। अयं खलु स्वतन्त्रः अनुसन्धानविषयः। अयोध्यायां सुविशालानि मन्दिराणि इति वाल्मीकिरामायणेन आवेद्यते,-

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वाट्टालकेषु च।।
... ...
ध्वजाः समुच्छ्रिताः चित्रा पताकाश्चाभवंस्तदा।।

(बड़ौदा सं. 12.6.11, 12.6.13cd) सुप्रतीयते खलु इक्ष्वाकुकुलस्य देवता विष्णुः। यौवराज्यस्य आदेशम् अवाप्य विष्णुरूपः रामः मातरम् उपजगाम, तेन,-

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्श याचतीं श्रियम्।।
... ...
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दन।।

(बड़ौदा सं. 2.4.30; 2.4.33cd)। अत्र जनार्दनपदं द्रष्टव्यम्। नाथृधातुः (भ्वादिः) याञ्चा-उपताप-ऐश्वर्य-आशीः-आदिषु अर्थेषु वर्तते। एवमेव अर्दधातुः (भ्वादिः) अपि याचना-अर्थे प्रयुज्यते।

'शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि' (रघु. 5) इत्यत्रापि 'अर्दतिक्रियायाः याचनार्थे प्रयोगः। एवमेव 'नाथृ' धातुः अपि याञ्चा-ऐश्वर्य-उपताप-आशीः-अर्थेषु एव। अतः उपर्युक्ते पद्ये 'जनार्दन' पदस्य तात्पर्यं लोकनाथेन, जगंन्नाथेन वा। अपि च अयोध्यायाः इष्टदेवता, प्रधानदेवता वा जगन्नाथः एव। स खलु रामदेवस्य अपि इष्टदेवः। अयोध्यायाः मन्दिरेषु आसीद् एकं विशालं मन्दिरम्। यत्र हि श्रीरामः यौवराज्यात् पूर्वरात्रौ स्व-इष्टदेवस्य उपासनायां सम्पूर्णां रात्रिं निनाय। तथा हि-

सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्।।
शेषं च हविस्तस्य प्राशास्याश्यात्मनः प्रियः।।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशंसंस्तरे।।
वाग्यतः सह वैदेह्याः भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः।।

(रा. बड़ौदा सं. 2.6.1cd, 3, 4) सर्वे अयोध्यावासिनः जगन्नाथस्य मूर्तयः इति उपरि उक्तम्। रामेण सह जगन्नाथस्य, लोकनाथस्य वा तादात्म्यं तु स्वाभाविकमेव।

वाल्मीकीये रामायणे अनेकवारं 'लोकनाथ' पदं रामस्य विशेषणत्वेन प्रयुक्तम्। 'लोकनाथस्य तात्पर्यं न केवलं 'राज'-मात्रेणैव, राज्यप्राप्तेः पूर्वमपि तस्मिन् 'लोकनाथं' पदस्य प्रयोगात्। किमधिकं दशरथेन अपि 'रामः' 'लोकनाथ'संज्ञया एव अभिधीयते स्म तदानीं न हि श्रीरामःयुवराजःमहाराजो वा। तथा हि–

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत्।।

(बड़ौदा सं. 2.37.17; बम्बई सं. 2.42.18)। एवं हि सुसिद्ध्यते 'लोकनाथः' रामस्य विशिष्टसंज्ञा इति। यया संज्ञया बाल्यादेव रामः संज्ञायते स्म। एतस्य कारणं तस्य लोकप्रियत्वम्, ईश्वरत्वम्, अथ वा उभयम् अपि संभाव्यते। अत्र इदम् अपि संभवम्, यद् अयोध्यायाः इष्टदेवतायाः लोकनाथनाम्ना अपि रामस्य आह्वानं नाम स्याद्। रामस्य लोकनाथसंज्ञायाः लोकप्रियतायाम् एकम् अन्यद् अपि प्रमाणम्, रामायणस्य लङ्काकाण्डस्थितायाः फलश्रुतेः श्लोकाः प्रायेण सर्वासु शाखासु उपलभ्यन्ते। बड़ौदासंस्करणस्य 6.303*, तथा 303 (F)* शाखायाः 10तमी, 12तमी पंक्तिः एवम् अस्ति,–

रामस्य विजयं चेमं सर्वमक्लिष्टकर्मणः।
लोकनाथस्य कृत्स्नस्य सर्वे प्राञ्जलयो नराः।।
शृणोति य इदं काव्यमार्षं वाल्मीकिना कृतम्।।

रङ्गनाथस्य, लोकनाथस्य, जगन्नाथस्य च उपर्युक्तेन प्रकारेण विवेचनं विहितम्।

6.2.0. कृत्यकल्पतरोः साक्ष्यम्—लक्ष्मीधरविरचितस्य 'कृत्यकल्पतरोः' निम्नलिखितस्य उद्धरणस्य अवलोकनेन लोकनाथस्य संगतिः सुसिद्ध्यते। कृत्यकल्पतरौ तीर्थानां रहस्यमूर्तीनां सूची स्तवरूपेण विद्यते। अत्र लिखितम्,–

विश्वरूपं कुरुक्षेत्रे मणिकुण्डे हलायुधम्।
लोकनाथमयोध्यायां कुण्डिने रुक्मिणीपतिम्।। पृ. 251।।

अत्र लोकनाथः अयोध्यायाः वास्तव्यरूपेण अभिहितः। डॉ. बाकरस्य मतेन 'लक्ष्मीधरेण' अयोध्यायाः रामजन्मभूमेः वा उल्लेखः न कृतः। एतत् सम्बन्धिनः श्लोकाः उद्धृताः, किन्तु न इमानि तीर्थानि भौतिकजगति सत्यानि, अपि तु काल्पनिकानि। अत्र हेतू प्रस्तूयेते डॉ. बाकरेण,–

6.2.1. प्रथमः तावद्, अयोध्यायां लोकनाथस्य न हि अन्यत्र उल्लेखः। द्वितीयः पुनः अस्यां सूचौ उल्लिखितानि कोपामुख–मन्दारद्वीप–इत्यादिस्थलानि काल्पनिकानि, न पुनः सत्यानि (द्र. अ.मा.I. पृ. 45) इत्युक्तम्।

6.2.2. तन्न, आलोचकस्य पूर्वाग्रहग्रस्तत्वात्। कोपामुखः बाकरस्य आक्षेपविषयः। लक्ष्मीधरमिश्रेण तु पुराणप्रसिद्धः कोपामुखः वर्णितः। मन्दारतीर्थम् अपि पौराणिकपरम्परायां विख्यातम् एकं तीर्थम्। एवमेव भवति भ्रमः बाकरस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य BP शाखायां वर्णितानां तीर्थानां विषये। पुराणवाङ्मयस्य सम्यगनुशीलनमन्तरा न हि शक्यते वक्तुं तीर्थानां काल्पनिकत्वम्। पूर्वाग्रहग्रहिलेन चेतसा पाश्चात्त्यविद्वद्भिः एवंविधाः आक्षेपाः कृताः। लक्ष्मीधरेण तु लोकनाथेन विष्णोः सम्बन्धः गुह्यतमः कथितः, किन्तु अज्ञानाद् न शक्यते कर्तुम् अस्य रहस्योद्घाटनम्। केचन संकेताः उपरि दत्ताः। अयोध्यायाः पौराणिकी, तान्त्रिकी च लोकपरम्परा, तत्र प्राचीनकालाद् एव रङ्गनाथ–लोकनाथ–आदीनाम् अयोध्यया सह सम्बन्धः प्रतीयते।

6.2.3. श्रीरामब्रह्मानन्देन रङ्गनाथ–(जगन्नाथ) मन्दिरम् अयोध्याद्वीपे स्वीकृतम्, इति चर्चितम् उपरि एव। मन्ये, अनेन रामजन्मभूमिः, गोप्रतारस्थितं गुप्तहरिमन्दिरं वा सूचितम्। अस्माकं कल्पनानुसारेण तिलोत्तमाकुल्या गोप्रतारात् पश्चिमतः निःसरति स्म, जन्मभूमेः दक्षिणतः मणिपर्वतात् च उत्तरतः प्रवहति स्म। एवम् उपसरय्वां परिवर्तितायां तस्यां, जन्मभूमिस्थलं, गुप्तहरिस्थलं चेति उभौ द्वीपस्थितौ भविष्यतः। गोप्रतारतीर्थं मन्ये, अयोध्यायाः सुप्राचीनेषु तीर्थेषु अन्यतमम्। स्वयं लक्ष्मीधरमिश्रेण अपि चर्चितम्। अत एव 'लोकनाथः' इति पदेन 'गुप्तहरेः' अपि संकेतः संभाव्यते। अयोध्यायाः माहात्म्यस्य परम्परायां विष्णोः गुप्तरूपेण अयोध्यायां निवासः कथितः। स निवासः गोप्रतारस्थिते गुप्तहरिस्थले। अतः लक्ष्मीधरोक्तस्य लोकनाथशब्दस्य तात्पर्यं गुप्तहरिः एव। अत्र इदम् अपि विवेचयितव्यम्। मित्रमिश्रेण अयोध्यामाहात्म्यस्य श्लोकाः उद्धृताः। 'गुप्तहरिः' इत्यस्य स्थाने 'सुप्तहरिः' दृश्यते। यतो हि हस्तलेखेषु सु, गु, मु इत्याद्यक्षरेषु भ्रान्तिः सुसम्भवा, अतः विकृतिः अत्रापि संभाव्यते एव। पुनश्च अत्र इदम् अपि कल्प्यते यत्, यौवराज्यात् पूर्वं श्रीरामः विष्णुमन्दिरे कुशास्तरणे सुप्तः, अतः संभाव्यते कालान्तरे सुप्तहरि–नाम्ना अस्य मन्दिरस्य ख्यातिः स्याद्भूतः।

6.2.4. सुप्तहरेः व्याख्यानान्तरमपि संभाव्यते। तिलकटीकायां पद्मपुराणस्य उद्धरणे अपि श्रीरङ्गशायिनः उल्लेखः। अतः तद् रङ्गशायिमन्दिरम् अपि 'सुप्तहरि' पदेन अभिधातुं शक्यते। अतः गुप्तहरिमन्दिरस्य रङ्गनाथ–लोकनाथ–जगन्नाथ–संज्ञायाः बहुसंभावना। अथ च जन्मभूमौ स्थितस्य राममन्दिरस्य लोकनाथः रङ्गनाथः वा नामान्तरमिति न अस्वीकृते कुर्महे। रामेण सह लोकनाथस्य सम्बन्धस्तु पूर्वमेव ज्ञापितः। तुलसिदासेन अपि श्रीरामः 'रङ्गनाथ' विरुदविभूषितः (शिवस्तुतेः अनन्तरमुत्तरकाण्डे इदं द्रष्टव्यम्)। रामस्य राज्याभिषेकः इक्ष्वांकूणां राजप्रासादे भूतः स्यात्। अयं प्रासादः 'रामकोटः' एव (द्र.रामजन्मभूमिः)। अस्मिन् एव रामकोटे जन्मस्थानमन्दिरम् अद्यापि विराजतेतरामि'ति।

6.3.0. तीर्थानां विकासः—उपसरयुस्थितौ अस्माभिः उड़ियापरम्परायाः अनुसारेण 'सरयुं समुत्तीर्य श्रीरामः अयोध्यां गतः' इति अभिहितम्। उपरि निर्दिष्टं चेद्, अस्यां परम्परायां सरय्वाः दक्षिणतटे अयोध्यायाः स्थितेः प्रमाणं प्राप्येत अपि तदा सा स्थितिः द्वीपस्थितेः एव द्योतिका स्यात्, न तु उपसरय्वाः स्थितेः। एवमेव उपसरय्वाः स्थितिः अन्येभ्यः अपि प्रमाणेभ्यः विज्ञेयः। एवमेव उपसरयुस्थिति–पक्षे दत्तं किमपि द्वीपस्थितेः एव द्योतकम्, चेद्यत्र अयोध्यायाः सरय्वाः दक्षिणतटे स्थितिः प्राप्येत।

6.3.1. अयोध्यासंबद्धानां सरयुतटवर्तिनां तीर्थानां विकासक्रमः द्वीपस्थिति–पक्षे एकम् प्रबलं प्रमाणम्। मूलस्थितौ सरयुः अयोध्यायाः पश्चिमोत्तरभागे गोप्रतारात् स्वर्गद्वारस्य धर्महरितीर्थं यावत् प्रवहन्ती निःसरतिस्म। साम्प्रतं धर्महरेः आग्नेयकोणे स्थितानां सरयुतटवर्ति–तीर्थानाम् उत्पत्तेः प्रश्नः एव न उदेति। उप–सरयुस्थितौ सरय्वाः प्रवाहः तिलोत्तमाकुल्यया प्रवहन् प्रवृत्तः। तथा च वर्तमानकालिकात् तिलोदकीसरयुसंगमाद् दक्षिणपूर्वस्य बिल्वतीर्थादेः विकासः सञ्जातः। पुनश्च यदा भौगोलिकपरिवर्तनेन सरय्वा स्व पूर्वप्रवाहम् अभिसर्तुं चेष्टितम् तदा संक्रमणकाले द्वीपस्थितिः केषुचित् वर्षेषु स्थिता। अनयोः द्वयोः जलम् अयोध्यायाः पूर्वभागे संगम्येत इति अति स्वाभाविकम् आसीत्। अनयोः संगमेन एव धर्महरेः, वर्तमान–तिलोदकी–सरयु–संगमस्य च सृष्टिः सम्पन्ना। अनयोः मध्यस्थानां रामघाट–त्रिपुरारि–प्रभृतीनां तीर्थानां विकासोऽपि संजातः। कालान्तरेण शुष्कप्रायायां तिलोदक्यां द्वीपस्थितिरपि विनष्टा। बिल्वतीर्थादिभिः तीर्थैः सह रामघट्टप्रभृतीनां तीर्थानामपि जलानि क्रमेण शुष्काणि जातानि, केवलं वर्षास्वेव अत्र स्रोतसि जलम् आयाति स्म नेतरस्यामवस्थायाम्।

6.3.2. एवमुपरि चर्चितः अस्माभिः तीर्थानां विकासक्रमः। एतत् खलु उपसरयुद्वीपस्थितयोः कल्पनाम् आधृतः। डॉ. बाकरेण अन्येषाम् आधारेण स्वीयमध्ययनम् उपस्थापितम्। सरयुतटवर्ति–तीर्थानां विकासक्रमेण अयोध्यामाहात्म्यस्य S (पौराणिकी)–शाखायां, BP (यामल) शाखायां, तथा च OA (प्रकीर्ण)–शाखायां तुलनात्मकविकासक्रमस्य यः निष्कर्षः 'बाकरेण' स्वीकृतः (I. पृ. 153, II. पृ. 448 इत्यादि) तेन स्वतन्त्ररूपेण अस्माकं निकर्षः पुष्यते। किन्तु काल–निर्धारणं तस्माद् भिन्नम्।

6.4.0. द्वीपोत्तरकालस्थितिः—द्वीपस्थितेः वर्तमानतिलोदकीस्थितिं यावत् बह्वीनां शताब्दीनां कालस्य व्यपायः। क्रमेण सरय्वाः मूलधारायाम् अधिकः जलप्रवाहः सञ्जातः, उपसरयुः च शुष्कप्राया सञ्जाता। एतस्याः बौद्धिक्याः कल्पनायाः कानिचित् प्रमाणानि अवशिष्यन्ते। तानि च वाल्मीकिरामायणस्य पाठपरम्परारूपाणि। परिवर्तमानायाः भौगोलिकस्थितेः अनुरूपेण पाठान्तराणि कालिदासस्य रघुवंशश्चेति एतद् द्वयम् अधिकृत्य किञ्चिद् उपरिष्टात् (अग्रे) प्रस्तूयते।

6.4.1. अयोध्याकाण्डस्य D. 4,5,7. उपशाखायाः पाठः—रामायण-अध्ययनशालायाः अनुसारेण मध्यदेशीया उपशाखा सु प्राचीना, महत्त्वपूर्णा च। यदा कदा इयं शाखा स्व-पाठमहिम्ना सुप्राचीनतां, कवेः मूलस्वरूपं च रक्षति। इदं बहु संभवं यद् वर्तमानदाक्षिणात्यशाखा, एतादृश्याः एव पाठशाखायाः विकसिता स्यात्। अत्र केवलं महत्त्वपूर्णः पाठः एव अवलोकनीयः। एतस्य पाठस्य महत्त्वं ज्ञातुं प्रथमम् अयोध्याक्षेत्रे स्थितस्य श्रवणाश्रमस्य भौगोलिकी स्थितिः विज्ञातव्या।

6.4.2. अयोध्यासम्बन्धिन्या मध्यदेशीयसामग्र्या (अ.मा., सत्यो.) वाल्मीकिरामायणस्य घनिष्ठः सम्बन्धः। एतस्याः परम्पराः वाल्मीकिसमये अपि प्राप्यन्ते। यथा,—स्वर्गद्वारस्य, गोप्रतारस्य, रामकोटस्य च कल्पनापरम्परा वाल्मीकिरामायणस्य अनुसारेण मन्ये, कालान्तरे कल्पिता स्यात्। एवम् उभयोः अवस्थयोः अस्याः परम्परायाः वाल्मीकीयेन रामायणेन विरोधः सम्भाव्येत। स अवश्यमेव विचारणीयः अनुसन्धातव्यश्च। एतयोः समन्वयस्य चेष्टा अस्माभिः अवश्यमेव करणीया।

6.4.3. अथ इदानीं डॉ. बाकरेण निर्दिष्टस्य श्रवणाश्रमस्य विषये विरोधस्य चर्चा करिष्यते। डॉ. बाकरस्य अनुसारेण अयोध्यामाहात्म्यस्य श्रवणाश्रमः अयोध्याक्षेत्रे तमसातटे (दक्षिणे उत्तरे वेति मतभेदः) आसीत् (द्र. अ.मा. बा. सं. II, पृ. 380-82)। वाल्मीकेः अनुसारेण श्रवणाश्रमः सरयुतटे आसीत्। सुस्पष्टः खलु अत्र अयोध्यामाहात्म्येन सह विरोधः, स खलु समाधानसापेक्षः।

वस्तुतः डॉ. बाकरस्य कल्पना भ्रममूलिका। तापसवधकथा वाल्मीकीये रामायणे अयोध्याकाण्डे विद्यते (रा., बड़ौदा सं.-57, बम्बई-63)। सरयुतटे तापसाश्रमः इति न कुत्रापि रामायणे अवलोकितम्। किन्तु अवश्यमेव तस्य वधः सरय्वाः जलानयनकाले जातः। दशरथं प्रति तापसेन 'एकपदी' मार्गस्य सङ्केतः कृतः,—**इयमेकपदी राजन् यतो मे पितुराश्रमः॥** (रा., बडौदा सं. 2.57.35ab)।

किन्तु अस्मात् कियद् दूरमि'ति न निर्दिष्टम्। मन्ये, एतस्य एव अभावस्य पूर्तिः D 4, 5, 7 उपशाखायाम्,—'**अस्माकमपि राजेन्द्र समीपे पितुराश्रमः**'॥ 14 13* पंक्तिरियं D 5, 35ab श्लोकस्य स्थाने पठिता। अस्तु, मूलग्रन्थे अस्य नास्ति स्पष्टोल्लेखः। तापसेन मार्गनिर्देशानन्तरं दशरथः तापसस्य पितुः आश्रमम् आयाति। मन्ये, तत्र तस्य रथेन गमनम्। बडौदासंस्करणस्य दाक्षिणात्यपाठस्य अनुसारेण दशरथः रथम् आरुह्य मृगयार्थं गतः आसीत्,—'**धनुष्मानिषुमान् रथी** (रा. 2.57.14b)।'

6.4.4. अन्यासु शाखासु रथस्य स्पष्टः उल्लेखः नास्ति, तथापि न तत्र विरोधः। 'एकपदी' पदेन अपि तत्र रथेन गमनं न हि निषिध्यते। 'रमणक'वनस्य विवेचनप्रसङ्गे तमसासरय्वोः मध्ये स्थितम् इदं वनम् अपेक्षाकृतं बहिः आसीत्। डॉ. बाकरेण सरयुतटे स्थितस्य श्रवणाश्रमस्य सम्बन्धे अस्य श्लोकस्य प्रमाणम् दत्तम्,—

तं देशमहमागत्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः।
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम्।। (रा., बड़ौदा सं. 2.25.27)

अत्र तापसस्य वधस्थलस्य उल्लेखः विद्यमानः, न किन्तु तस्य आश्रमस्य। चेत् तापसाश्रमः तमसातटे स्यात् तदा जलानयनार्थं सरयुगमनं किमर्थं? वर्तमानकाले नन्दिग्रामाद् दक्षिणे 'श्रवणाश्रम' क्षेत्रात् प्रवहमानायाः तमसायाः सरय्वाः दूरत्वम् अनेक-किलोमीटरव्यापि अस्ति। किन्तु तत्कालिकानां जनानां कृते नातिदूरम्, अथ च सरयुजलस्य अन्यजलापेक्षया अधिकं वैशिष्ट्यमपि सुसंभवम्। भारतीयसाहित्यं, भारतीयपरम्परानुसारेणैव अवगन्तव्यं, न तु वैदेशिक्या दृष्ट्या। अस्ति खलु भारते तीर्थजलानां महत्त्वम्। अद्यापि काशिराजानां हरिद्वारस्थ-गङ्गाजलस्य पानस्य जीवन्ती परम्परा। ते यत्र कुत्रापि हरिद्वारतीर्थस्य एव जलं पिबन्ति, काश्याः गङ्गाजलेन च शिवार्चनं कुर्वन्ति। अस्ति चेयं परम्परा सायासिका, व्ययात्मिका चेति, तथापि निर्वाहयन्ति परम्परामिमां काशिराजाः। किमधिकं मुसल्मान-'बादशाहः' शाहजहाँ अपि नियमेन यमुनाजलं पिबति स्मः। अतः न हि असम्भवं, यत् श्रवणकुमारस्य पितरौ सरयुजलमेव पिबतःस्मः। अतः अकस्माद् एव आश्रमे जलाभावाद् बालकस्य (श्रवणकुमारस्य) रात्रौ सरयुगमनं मन्ये स्याद्भूतम्, न तु इदं दैनिकं कर्म। उक्तं च वाल्मीकीये,—

तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ।
चिरमाशाकृतां तृष्णां कष्टां सन्धारयिष्यतः।। (रा., बड़ौदा सं. 2.5.31)

6.4.5. अस्य पुष्टिः रामायणस्य निम्नोक्तेन पद्येन भवति। गते तापसाश्रमे दशरथे,—

पद-शब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय।। (रा., बड़ौदा सं. 2.58.5)

अत्र द्वितीया पंक्तिः, विशेषेण 'पानीयं' पदं, 'क्षिप्रं' पदं च अस्माकं स्थापनायां सु प्रमाणम्। अपि च सरयुः वाल्मीकिदशरथयोः समये पुण्यजला नाम इति प्रश्नः खलु आधुनिकानां विदुषां पाश्चात्त्यानाम् च। भारतीयविचारेण यद्यपि अयं प्रश्नः हास्यास्पदः, तस्याः वैदिककालादेव पुण्यासु नदीषु परिगणितत्वात्, पुराणैः समर्थनात् च। किन्तु अत्र विस्तरभिया साक्षात् प्रमाणं केवलं वाल्मीकीयं पद्यमेव उपस्थापये,— **ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा।।** (रा., बड़ौदा सं. 2.58.2a b बम्बई सं.-2.64.2)

अत्र 'परमं' पदं न केवलं स्वच्छतायाः प्रमाणम्, अपितु तीर्थस्य पवित्रतायाः अपि। नद्यः वर्षर्तौ अपवित्राः मताः, काश्चन नद्यः रजस्वलाधर्मराहित्यात् निरन्तरमेव पवित्राः। तासु सरयुप्रभृतयः नद्यः परिगणिताः। एतासां नदीनां स्वच्छता अपि नाविदिता जनानाम्। अत्र 'परमवारिणा' पदं सरय्वा सम्बद्धम्, तच्च तमसायाः तटे स्थिताद् आश्रमात् श्रवणकुमारस्य सरयूतः जलानयनस्य कल्पनां पोषयत्येव। अनेन वाल्मीकिरामायणस्य

अयोध्यामाहात्म्यस्य च उपर्युक्तः विरोधः अपि अपसार्यते। अतः परम् अस्मिन् एव सम्बन्धे सरय्वाः परवर्तितायाः सम्बन्धे विचारयिष्यते।

6.5.0. तापसाश्रमः—मन्ये, सरयुजलं सर्वत्रैव, विशेषतः अयोध्यायां सुपवित्रं मन्यते स्म। अतः अवश्यमेव श्रवणकुमारस्य गोप्रतारं निकषा एव जलमानेतुम् आगमनं स्याद् भूतम्। गोप्रतारं च अयोध्यायां पश्चिमभागे, पश्चिमदक्षिणस्यां च श्रवणाश्रमः। एवम् उप-सरयुस्थितिः द्वीपस्थितिः उत्तरद्वीपकालिकस्थितिः च विवेचिता। अस्यां स्थितौ तापसः श्रवणः नद्याः दक्षिणतटे एव जलमानेतुम् आगतः स्यात्। दशरथश्च स्याद्भूतः स्थितः नद्याः दक्षिणतीरे। वाल्मीकिरामायणस्य अध्ययनेन सुस्पष्टं यत्, मूलग्रन्थस्य रचनाकाले मूलस्थितिः एव भूता स्यात्। अत्र स्थितिरियं विचित्रा। सरय्वाः मूलस्थितिः तथा तिलोत्तमाकुल्यास्थितिषु सरय्वाः दक्षिणतटे एव जलभरणकाले तापसदशरथयोः स्थितिः स्याद्भूता। तापसस्य आश्रमः अपि सरय्वाः दक्षिणभागे एव आसीत्। कालान्तरेण (उप-सरयुस्थितेः द्वीपोत्तरकालिकीं स्थितिं यावत्) प्रवाहस्य परिवर्तनेन अयोध्यायाः भूगोलेन परिचितायां मध्यदेशीयपरम्परायां वाल्मीकिरामायणस्य भूगोलेन संगतिं स्थापयितुं काठिन्यं स्याद्भूतम्। अस्य काठिन्यस्य समाधानाय प्राचीनकाले वाल्मीकेः पाठ एव परिवर्तितः। धारायाः परिवर्तनेन, बाणवेधनसमये तापसकुमारस्य, दशरथस्य, तापसाश्रमस्य च यस्याः स्थितेः वर्णनं, सा एव स्थितिः वर्णिता मध्यदेशीय-D 4.5.7 शाखायाम्। वाल्मीकीये रामायणे दशरथः कौसल्यां ब्रूते,—

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः।
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वाः तापसं हतम्।।

(रा., बड़ौदा सं. 2.57.27, बम्बई सं. 2.63.33)।

सुस्पष्टमेव अत्र दशरथतापसौ सरय्वाः दक्षिणतटे एव स्थितौ। अस्य श्लोकस्य प्रथमां पंक्तिं परिवर्त्य तस्मिन् स्थाने-1405* श्लोकः पठितः,—

ततस्तीरं व्यनुसरन् सरय्वास्तमसावृतम्।
तद्दर्शन-समुत्साही नैनमासादयन् तथा।।
अथ निःश्वसतस्तस्य शब्दमश्रौषमीरितम्।
चेष्टितः सरयुपारे भेकस्येव विकूजतः।।

परिवर्तने अस्मिन् भौगोलिकी स्थितिरेव हेतुः। अस्यां स्थितौ पुनः दशरथः उत्तरे तीरे, तापसपुत्रश्च दक्षिणे तटे स्थितौ भूतौ स्याताम्। अस्य याथार्थ्यं वर्णनम्-(1405*) निम्नपंक्तौ द्रष्टव्यम्-

सरयुश्चाल्पविस्तारा तस्मिन् देशे तदाभवत्।
निषीथत्वाच्च सर्वत्र श्रूयते तस्य सद्ध्वनिः।।
अथ काले विरागेण शशाङ्को हिमपाण्डुरः।

उदतिष्ठत् क्षणे तस्मिन् प्रकाशं चान्यवर्तत।।
ततस्तीर्त्वा सुखं तत्र नात्यर्थं सलिलां नदीम्।।

अनेन निष्कर्षद्वयं लभ्यते—

6.5.1. पाठपरिवर्तनकाले अस्य द्वीपोत्तरकालिकी स्थितिः। उपसरयुस्थितौ, द्वीपस्थितौ चापि दशरथतापसयोः, विपरीततटयोः स्थितिः संभाव्यते। किन्तु सरय्वाः अल्पविस्तारः, अल्पजलत्वं, सुनरत्वं च स्पष्टरूपेण द्वीपोत्तरकालीनां स्थितिमेव व्यनक्ति। तदानीम् उपसरयुः क्रमशः शुष्कप्राया आसीत्।

6.5.2. D 4, 5.7 उपशाखायाः पाठसमये लोके तमसातटस्थस्य तापसाश्रमस्य मान्यता सुसिद्धा आसीत्। यदि एवं न स्यात्, परिवर्तमानायाः सरयुधारायाः स्थितौ अपि तापसदशरथयोः स्थितिः एकस्मिन् एव तटे स्वीक्रियेत। परन्तु तापसाश्रमस्य तमसातटे एव प्रसिद्धत्वात् तदानीं पाठपरिवर्तनम् अवरुद्धम्। परिवर्तितायाः अस्याः धारायाः काले दशरथतापसयोः स्थितिः काठिन्यं विनैव सरय्वाः उत्तरतटे स्वीक्रियते। यद्यपि सरय्वाः मूलस्थितौ दशरथतापसौ उभावपि सरय्वाः दक्षिणतटे स्वीक्रियेते। यद्यपि सरय्वाः मूलस्थितौ दशरथतापसौ उभावपि सरय्वाः दक्षिणतटे स्याताम्। रामायणे (मूलग्रन्थे) दक्षिणोत्तरयोः कस्यापि उल्लेखः नास्ति। अतः परिवर्तितदशायाम् उभयोः एकत्रैव स्थितिः अङ्गीकर्तुं शक्यते, परन्तु तमसातटे तापसाश्रमस्य स्थितेः सुदृढमान्यतया एतादृशानां पाठानाम् आवश्यकता सञ्जाता, येन एकस्मिन् तटे दशरथस्थितेः, अपरस्मिंश्च तापसस्य जलादानस्य परिकल्पना कृता।

6.5.3. D 4,5.7. शाखायाःकालनिर्धारणम्—डॉ.हाजरा–महोदयस्य अनुसारेण, मुद्रितम् अग्निपुराणं न हि वास्तविकम्। आसीत् नाम ख्यातम् अग्निपुराणं वह्निपुराणनाम्ना। साम्प्रतं, केचन हस्तलेखाः अपि तस्य प्राप्यन्ते। [एतस्य द्वौ हस्तलेखौ 'इंग्लैण्डस्थ–इण्डियाऔफिसपुस्तकालये सुरक्षितौ। तस्य द्वे छायाप्रती पुराणविभागे (का.रा.न्या. रामनगर, वाराणसी) सुरक्षिते स्तः। विस्तृतं रामचरितम् अस्य वैशिष्ट्यम्।]

डॉ.हाजरा–मतानुसारेण अग्निपुराणं वर्तमानश्रीमद्भागवतपुराणात् सु प्राचीनम्। सुस्पष्टं यत् D 4, 5.7 शाखा अस्मात्पूर्वतः एव सुप्रतिष्ठिता, बहुप्रचलिता स्याद् भूता। अतः इयं द्वीपोत्तरकालिकी स्थितिः बुद्धयुगात् पश्चात् मौर्य्यशुङ्गकालयोः मध्ये भूयेत। इदानीम् अस्माभिः कालिदासकालिक्याः सरयुधारायाः स्थितेः विवेचनं करिष्यते।

6.5.4. सरयुसहस्रनामस्तोत्रस्य अनुसारेण सरयुः कदापि शेषाचलस्य समीपेन प्रवहति स्म। तत्रैव सरयुसहस्रनामस्तोत्रे सरय्वाः एकं नाम 'शोष्या' अपि अस्ति। संभाव्यते खलु 'शोष्या' इत्यत्र 'शुष्या' पाठः स्यात्। अत्र कर्तरि अच्–प्रत्ययः, न तु श–प्रत्ययः। अस्य उल्लेखः पाणिनीये–3.1.137–139 पर्यन्तमस्ति। 'अज् विधिः सर्वधातुभ्यः इष्यते तथा पचादिराकृतिगणः, आभ्यां वार्तिकाभ्यां कर्तरि 'शः' प्राप्यते।

अथ वा कर्मकर्तरि अर्थे कृत्यप्रत्ययोऽपि स्वीकर्तुं शक्यते, अस्य अर्थः शुष्यमाणा इति। सरय्वाः मूलधारां कदापि कुत्रापि शुष्यमाणात्वेन कल्पयितुं न शक्यते। अतः अवश्यमेव शेषाचलेन प्रवहमाना उपसरयु–धारा रामायणपाठस्य D 4, 5.7, शाखायाम् अपि शुष्यमाणात्वेन अवलोकिता। अतः सरयुसहस्रनामस्तोत्रे द्वीपोत्तरकालिक्याः स्थितेः संकेतः, अथ वा उपसरय्वाः द्वीपोत्तरकालिक्याः स्थितेः, उभयोः स्मृतीनां सम्मिश्रणं जातम्। सहस्रनामस्तोत्रस्य परवर्तित्वेन इदं सुसम्भवम्। अयोध्यायाः पर्वतानां परम्परायां जैनमान्यता अपि उल्लेखनीया। अत्र 'अष्टापद' नाम्नि पर्वते अयोध्यानरेशस्य श्रीऋषभदेवस्य 'विहारस्य' समुल्लेखः (डॉ. शिवप्रसादद्वारा 'जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन' नाम्नि रचिते ग्रन्थे उद्धृतानि आवश्यकीनिर्युक्ति–आवश्यकचूर्णीग्रन्थयोः -उद्धरणानि; पार्श्वनाथविद्याश्रम, वाराणसी)। अस्यैव उल्लेखः अयोध्यातीर्थकल्पे जिनप्रभसूरिणा कृतः,–'**जीये उत्तरदिशाये बारसहिं जीअणेहिं अट्ठावय नगवरो। जत्थभगवं आइगरो सिद्धो।**' (द्र., मदीयो लेखः, पुराणम्, XXXIII, No.2, पृ. 200)।

6.6.0. कालिदासस्य दृष्टिः—सूक्ष्मया धिया कालिदासः स्वरचनायां वाल्मीकिम् अनुकरोति इति नाविदितं सुधियाम्। किन्तु अनेकेषु स्थलेषु भिन्ना सरणिः अपि अवलम्बिता तेन। केषुचित् स्थलेषु पुराणान्तरीया कथा अपि अवलम्बिता इति तदीयैः टीकाकारैः अपि उक्तम्। अत्र अस्माभिः कालिदासस्य वाल्मीकिरामायणेन सह एकस्याः विसंगतेः चर्चा करिष्यते। वाल्मीकिना सरयुतटे मृगयां कुर्वता दशरथेन तापसवधः वर्णितः। कालिदासः तु आंखेटकादीनां घटनाक्रमाणां वर्णनं तमसातीरे विदधाति। एतस्याः परम्परायाः अनुगमनं 'जानकीहरणे' कुमारदासेन अपि विहितम्। तमसातटे दशरथस्य मृगयावर्णनस्य अन्वेषणं सर्वत्रैव रामकथायां, विशेषतः पुराणादिषु च विधातव्यम्। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे कालिदासेन वाल्मीकेः पृथग् विभेदः कृतः। वाल्मीकिना मृगया वर्षासु वर्ण्यते, कालिदासेन पुनः वसन्ततौं। अनयोः भेदः विचारणीयः। अत्र अस्माभिः एतस्य व्याख्यायै एका प्रस्तूयते नवा उपस्थापना।

6.6.1. कालिदासस्य पुरः स्याद्भूता वाल्मीकिपाठस्य D 4, 5.7 शाखायाः परम्परा। तदानीम्। इयमेव परम्परा मध्यदेशे सु प्रचलिता। वह्निपुराणस्य उद्धरणेन इयं खलु स्पष्टगोचरा। तत्कालिकस्य भूगोलस्य वासनया इयमुपशाखा परिवर्तिता, किन्तु विसंगतिः एका अनवधानतां गता। तदानीं सरय्वाः अल्पविस्तारतायाः, सुतीर्णतायाश्च उल्लेखः आवश्यकः जातः। वाल्मीकौ मृगयायाः प्राक् प्रचुरवर्षणस्य उल्लेखः विद्यते। अतः अस्वाभाविकी सरय्वाः समुत्तीर्णता, कालिदासेन पुनः काठिन्यमिदम् अनुभूतम्। अन्यथा स्यात् काठिन्यं जलपूर्णायाः सरय्वाः स्वीकारे। सरय्वाः एकस्मिन् तटे दशरथस्य, अपरे पारे तापसस्य च स्थितिः सर्वथा असम्भवा। सरय्वाः मूलधारायाः तटे मृगयास्थले स्वीकारे दशरथतापसयोः एकस्मिन् एव तटे स्थितिः स्यात्। अनेन स्यात् तत्कालिकस्य

रामायणस्य पाठेन (D 4, 5.7) विरोधः। एताभिः सर्वाभिः समस्याभिः विमुखीभूतेन कालिदासेन सरयुतटस्था घटना पूर्णरूपेण परिवर्तिता, तमसातटे चानीता।

6.6.2. अत्र कविना स्वस्य कविस्वातन्त्र्यस्य प्रयोगः निहितः। तमसातटे श्रवणाश्रमस्य परम्परा सुप्राचीना, अतः तमसातटे तापसवधस्य परिकल्पना न हि अस्वाभाविकी कथितुं शक्या। भवेन्नाम खलु वाल्मीकेः पृथक् सरणिः। वस्तुतः अत्र एतादृशः परिवर्तनस्य नासीद् आवश्यकता, केवलं वर्षायाः स्थाने वसन्ततौं स्वीकृते एव D 4, 5.7 शाखायाः पाठपरम्पराभिः संगतिं स्थापयितुं शक्यते स्म इति चेन्न, सरयुतटत्वेन वाल्मीकेः तुलनया, ऋतुविरोधाच्च। तमसातटस्य कल्पनां विधाय कालिदासः वाल्मीकेः बन्धनात् निर्मुक्तः। अथ च भारतीयजनमानसे कल्पभेदाश्रयेण कथापरिवर्तनस्यं सनातनी परम्परा।

6.6.3. अत्र इयमपि एका संभावना। उपरि विवेचितं यत् D 4, 5.7 शाखायाम् अल्पजलायाः सरय्वाः वर्णनम्। सा निश्चयेन द्वीपस्थितेः अनु उपसरय्वाः क्रमेण शुष्यमाणायाः सरय्वाः वर्णनम्। बहुसंभवं यत्, कालिदासकाले इयमुपसरयुः शुष्कप्राया स्यात्। एतस्यां परिस्थितौ घटनास्थलस्य परिवर्तनस्य बाध्यता स्याद् भूता। घटनास्थलं यदि परिवर्त्येत तदा D 4, 5.7 शाखायां दशरथतापसयोः पृथक् तटयोः स्थितयोः स्याद् विरोधः, एतदर्थमेव कालिदासेन घटनास्थलं तमसातटे आनीतम्।

एवं कालिदासस्य कालः द्वीपोत्तरकालिकाक्यां स्थितौ, अथ वा तदनन्तरे अस्ति। अतः शुङ्गकालगुप्तकालयोः मध्ये कालिदासः आविर्भूतः। अस्ति तावत् कालिदाससम्बन्धिधारणायाः अनेन मतेन सम्बन्धः।

7.0.0. तिलोदकीस्थितिः—सरयुजलप्रवाहस्य परिवर्तनप्रवृत्त्या उपसरयुः शुष्कप्राया जाता। महत् परिवर्तनं तु इदं जातं यत् तिलोत्तमाकुल्यायाः प्राक्तनी भौगोलिकी स्थितिः अपि न प्राप्ता। सरयुः प्रायेण स्वकीयं मूलमार्गं गतवती आसीत्। उपसरय्वाः प्राचीनकुल्या तु नष्टा एव, सिकतायाः अवक्षेपेण तिलोत्तमा कुल्या (परवर्तिनी उपसरयुः) परिपूरिता, सरय्वाः मूलधारया विच्छिन्ना च जाता। शनैः शनैः उपसरयुः पृथिव्यां परिणता। एवं क्रमेण वर्तमानतिलोदक्याः उत्पत्तिः जाता। सा अद्यापि परिवर्तनम् ईयते। साम्प्रतं सा वर्षाकालिककुल्यारूपेण प्राप्यते। सरय्वाः धारायाः विच्छिन्नत्वाद् अस्याः विमलः सरयुजलप्रवाहः अपगतः। प्रत्युत सा नदी दूषणजलप्रवाहस्य प्रणालिका संजाता। निश्चयमेव गङ्गाजलादपि आसीत् सरयुजलं शुभ्रम्। तिलोदकी तु यमुनायाः अपि कृष्णवर्णा। अनेनैव वर्णपरिवर्तनेन जनैः तिलई इति संज्ञाता, यस्य हि संस्कृतीकृतं नाम तिलोदकीति। सरय्वा सम्बद्धायाम् अवस्थायां तस्याः इयं संज्ञा इति सत्योपाख्यानेन समाधीयते। अस्ति हि सुरक्षितं तिलोत्तमा इति नाम तस्यां परम्परायाम्। तिलोत्तमा-सरयुजलयोः शुभ्रतायां को नाम सन्दिह्येत। एतस्याः सार्थक्यं निम्नस्थले विचारयिष्यते।

मन्ये, नामान्तरप्रक्रिया एवम्,-तिलोत्तमा > तिलोत्तयो > तिलोदी > तिलोई तिलोदकी एवं तिलोत्तमायाः तिलोदकीरूपेण परिवर्तने अयोध्यायाः अनेकानि ऐतिहासिकभौगोलिकानि च रहस्यानि।

7.1.0. तिलोदक्याः कालः—तिलोत्तमाकालं विचारयितुं पूर्वं प्रतिश्रुताः वयम्। अयोध्यायाः वर्तमानभूगोलेन सुस्पष्टं, यत् तिलोत्तमायाः पूर्वीयप्रवाहः, तस्य उत्तरभागे अशोकवाटिका। तस्य समीपे दक्षिणतटे च मणिपर्वतः। एवं मणिपर्वत-तिलोत्तमा-अशोकवनिकानां च रचनात्मकं संगठनं सुस्पष्टम्। डॉ.बाकरेण अत्र अनवहितमिति आश्चर्यकरम्। डॉ. बाकरः अशोकवाटिकायाः कल्पनां मध्यकाले (16-17 ई. शताब्द्याम्) उदीयमानायाः माधुर्यभक्तेः धारया सम्बध्नाति। किन्तु तस्य खण्डनं तेन दत्तेन प्रमाणेन एव भवति (अ. मा. II_ पृ. 199-204 पर्यन्तम्)। तथा हि-

7.1.1. भुशुण्डीरामायणं हि माधुर्यभक्तेः विशिष्टः ग्रन्थः। अत्र श्रीरामस्य लीलया सम्बन्धितानाम् अनेकेषां वनानां वर्णनम्। किन्तु अयोध्यामाहात्म्ये उल्लिखितायाः अशोकवनिकायाः उल्लेखमात्रमपि नेति आश्चर्यम्।

7.1.2. अशोकवाटिकायाः उल्लेखः केवलं OA (प्रकीर्ण) शाखायाम्, इदं सत्यम्, परन्तु OA शाखायाः अनुसारेण अस्यामेव वाटिकायां सीताकुण्डमपि विद्यमानम्। निर्माणमस्य कारितं स्वयमेव सीतया। अतः कुण्डमिदं सु प्राचीनम् अशोकवनिकान्तर्गम्। पूर्वमध्ययुगे जिनप्रभसूरिणा तीर्थकल्पे अस्य उल्लेखः अकारि। (द्र. तीर्थकल्पनामको मदीयो लेखः, पुराणम्, VOL. XXXIII, NO. 2 संस्कृतखण्डः)।

स्वयमेव बाकरमतेन अपि 'तीर्थकल्पे' अस्ति एकस्याः वाटिकायाः उल्लेखः सीताकुण्डस्य समीपे। अनेन अयोध्यामाहात्म्यस्य OA (प्रकीर्णं) शाखायाम् अशोकवाटिकायां वर्णितं सीताकुण्डं पुष्यते। तीर्थकल्पे इदम् उद्यानम् पार्श्वनाथेन सम्बद्धमिति भणितम्। सीताकुण्डस्य प्राचीनता, तत्स्वीकृतिश्च जैनपरम्परायाम्। अतः अशोकवाटिकायाः प्राचीनपरम्परा जैनीकरणेन पार्श्वनाथस्य वाटिका इति विख्याता।

7.1.3.अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णायां, पौराणिकशाखायां च सीताकुण्डस्य उल्लेखः। अतोऽस्याः सुसिद्धा हि प्राचीनता। यामलशाखा च उपसरयुस्थितेः शाखा। अस्यां शाखायां उपसरय्वा अशोकवाटिका उपप्लाविता, अतः अशोकवाटिकायाः अनुल्लेखः तत्र स्वाभाविकः।

7.1.4. पौराणिकशाखायाः उत्पत्तिकाले यस्याः माधुर्यभक्तिधारायाः उल्लेखः डॉ. बाकरेण क्रियते, तस्याः सत्तायाः प्रश्नः एव न समुदेति। तथा च अनेन सीताकुण्डेन अशोकवाटिकायाः परम्परा अविभाज्यरूपेण संलग्ना।

अशोकवाटिकायाः कल्पनायां परवर्तिमध्ययुगस्य माधुर्यभक्तेः प्रभावो नास्ति, प्रत्युत अयोध्यायाः प्राचीनसंस्कृतेः निधिः वित्तः। अस्य मूलस्रोतसः उल्लेखः स्वयमेव

डॉ.बाकरेण विहितः, स खलु–5.14–15 सर्गः। किन्तु अत्रापि डॉ. बाकरः एकां लघ्वीं, किन्तु महत्त्वपूर्णां च विस्मृतिं गतः। वस्तुतः वाल्मीकिरामायणस्य सुन्दरकाण्डस्य प्रभावः उत्तरकाण्डस्य (सर्ग–41) अशोकवाटिकायां (OA शाखायाम्) स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते। अयोध्यामाहात्म्ये एतस्याः एव अशोकवनिकायाः वर्णनम् अशोकवाटिकारूपेण विद्यमानम्। अनया एव अनवधानतया डॉ. बाकरः विषयेऽस्मिन् विस्मृतः। अनेन सम्पादितस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य अशोकवाटिकायाः प्रसङ्गे श्लो. 2 तः 24 यावत् सम्पूर्णं प्रकरणं प्रायेण वाल्मीकिरामायणस्य 41 सर्गस्य 2–16 श्लोकपर्यन्तं, तथा 17 श्लोकस्य NV1D6,9T4 शाखायाः मूले। मन्ये 1 तमः श्लोकः अशोकवाटिकायाः प्रकरणे स्याद्भूतः। परवर्तिनः श्लोकाः पार्श्वलेखाः, अतिरिक्तपत्रे लिखिताः वा भवेयुः, ते क्रमेण मूलग्रन्थे गृहीताः स्युः। अयोध्यामाहात्म्यस्य 24 तमे श्लोके एका एव पंक्तिः, यस्य अन्वयः अपूर्णः। अतः अनेन अपि इयं सुस्पष्टा।

7.1.5. अत्र बाकरेण अनुमितं यद् अस्य श्लोकस्य द्वितीया पंक्तिः अयोध्यामाहात्म्यस्य पाठसंक्रमणक्रमे एव विनष्टा। वस्तुतः एतादृश्याः कस्या अपि कल्पनायाः आवश्यकता नास्ति। सम्पूर्णोऽयमंशः अयोध्यामाहात्म्ये परवर्तिकाले प्रक्षिप्तस्य 1797* श्लोकस्य पाठः। तथा हि–

तथा तयोर्विहरतो सीताराघवयोश्चिरम्।
दशवर्षसहस्राणि गतानि सुमहात्मनोः।।

सुस्पष्टं यद्, अस्य cd चरणौ अयोध्यामाहात्म्ये प्रकरणविरुद्धौ स्याताम्। अतः प्रक्षेपकारेण तौ परित्यक्तौ। एवं cd चरणौ आकाशलम्बितौ, निरर्थकौ च जातौ।

7.1.6. अत्र शङ्कते। कथम् अयोध्यामाहात्म्ये एवंभूताः 23 श्लोकाः (2–24 यावत्) मया रामायणस्य 2–17 श्लोकाः, अर्थात् 16 श्लोकाः निर्दिष्टाः? अत्र समाधीयते। प्रक्षेपकारस्य पाठे बड़ौदासंस्करणस्य तारकाङ्किताः श्लोकाः अपि सम्मिलिताः आसन्। यथा,—1797* इत्यादयः। अनेन श्लोकसंख्या पूर्यते। अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रक्षिप्तकारस्य समक्षं वाल्मीकेः कः पाठः इति अध्येतृभिः अवगन्तव्यम्। अयोध्यामाहात्म्यस्य विभिन्नासु शाखासु रामायणस्य अन्यः अपि अंशः बाहुल्येन गृहीतः। अत्र अध्येतृभिः ध्यातव्यं यद्, वाल्मीकीयरामायणाद् गृहीताः अंशाः एकस्याः एव उपशाखायाः, अथ वा पृथक् उपशाखायाः सन्ति। अपि च अनेन विवेचनेन एतद् अपि प्राकाश्यं नीयते। एकः एव प्रक्षिप्तकारः एकस्मिन् देशे, एकस्मिन् काले एव प्रक्षिप्तं अंशं विनिर्मितवान्, अथ वा, कश्चन अतिरिक्तः भिन्ने काले? अयोध्यामाहात्म्यस्य दाक्षिणात्यादि–अदेवनागरीणां परम्पराणाम् अध्ययनस्य महती आवश्यकता वर्तते अस्मिन् विषये।

7.2.0. अयोध्यायाः अशोकवाटिका—एवम् अयोध्यायां 'अशोकवाटिका'-स्थलस्य सांस्कृतिकम्, ऐतिहासिकम्, च अध्ययनम् आवश्यकम्, तत् च वाल्मीकीयसापेक्षम्। उक्तं च अस्माभिः अशोकवाटिका-मणिपर्वतयोः मध्ये स्थिता तिलोत्तमा एकस्यैव परिवेशस्य अङ्गभूता। अतः अस्य बीजं वाल्मीकिरामायणे अन्विष्यते।

उपर्युक्ताद् अध्ययनात् पूर्वं भूमिकात्वेन अयोध्यायाः पर्वतानां सम्बन्धे अवलोकनीयम्। साम्प्रतम् अयोध्यायां, तत् पार्श्वे च नास्ति कश्चन तादृशः पर्वतः। अतः प्राचीनपरम्परायां पर्वतानां सङ्केतः किञ्चिद् वैचित्र्यमेव उत्पादयति। अधः केचन सङ्गृह्यन्ते,-

7.2.1. डॉ. बाकरेण एका लोकपरम्परा उल्लिखिता। यत्र मनवे अयोध्यासमर्पणस्य कथा, तत्र पर्वनानाम् अपि उल्लेखः। तेषु अवशिष्यते इदानीं केवलं मणिपर्वतः एव (अ.मा. II. पृ. 215)।

7.2.2. सत्योपाख्याने शेषाचलस्य वर्णनम्। अयं तिलोत्तमायाः अपरे पारे भूतः। सु प्रतीयते अयं वर्तमानकालिकः मणिपर्वतः, सुग्रीवपर्वतः, कुबेरपर्वतो वा। अस्य शेषाचलस्य उल्लेखः भुशुण्डीरामायणे अपि विद्यमानः। अस्यैव शेषाचलस्य उल्लेखः मन्ये, सरयुसहस्रनामस्तोत्रे। उत्तरकाण्डे रामेण परित्यक्तस्य, लक्ष्मणस्य कश्मिंश्चित् पर्वते तपो वर्णनं प्राप्यते। अस्ति अस्य उल्लेखः पुराणेषु। मन्ये रामायणपरम्परायामपि तदेव। अतः बहु संभवम् यद् अयं शेषाचलः एव। अतः अस्य परम्परा प्राचीना।

7.2.3. कुमारगुप्तस्य विख्यातः 'करमदण्डा' शिलालेखः अयोध्याक्षेत्रे एव प्राप्तः। अयं खलु एकस्मिन् शिवलिङ्गे उत्कीर्णः। इदं लिङ्गम् अयोध्यायाः 24 कि.मी. दूरम् एकस्मिन् 'भारडी' नामके (टीलायाम्) स्थाने प्राप्तम् (डॉ.बाकरेण, अ.म. I. पृ. 28 लिखितम्)। अत्र इदं लिङ्गं 'शैलेश्वरस्वामीति'नाम्ना अभिहितम्। विभिन्न-गजेटियराणाम् अध्ययनेन प्रतीयते यत्, पूर्वमध्ययुगे कोशलप्रदेशे 'भर'-जातीनां शासनमासीत् सम्भाव्यते, अस्य सम्बन्धः उपर्युक्तेन स्थलेन स्यात्। मन्ये, तस्य स्थलस्य मूलं नाम 'भाराद्रिः', भराद्रि वा स्यात्।

7.3.0. अयोध्यायाः पर्वताः—वाल्मीकिरामायणे अयोध्याक्षेत्रस्य पर्वतानाम् आश्चर्यजनकः उल्लेखः प्रतीयते। वैचित्र्यमिदम् यत् केनापि अध्येत्रा अत्र न हि ध्यातम्। अयोध्याकाण्डस्य 57 तमे सर्गे (बड़ौदासंस्करणे, बम्बईसंस्करणे 63 सर्गे) निम्नलिखितः श्लोकः प्राप्यते,-

पतितेनाम्भसा छन्नः पतमानेन चासकृत्।
आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः।।18।।

अयोध्यायां वर्षावर्णनप्रसङ्गे श्लोकोऽयं दशरथेन उक्तः। अर्थकरणे टीकाकारैः अत्यन्तं काठिन्यम् अनुभूतम्। तेषु कतिपयानाम् एवम् आशयः,–

7.3.1. 'मत्तसारङ्गः मदविशिष्टगजः अचलः तरङ्गरहितः तोयराशिः समुद्रः इव आबभौ।' इति सर्वार्थसारे। अत्र मत्तसारङ्गः उपमेयः, तोयराशिः च उपमानम्। गजसमुद्रयोः उपमा किमपि वैशिष्ट्यं धारयति।

7.3.2. गोविन्दराजः–'पतितेन पतमानेन च निरन्तरेणेत्यर्थः। अम्भसा वर्षाजलेन छन्नः मत्तसारङ्गः मत्तगजः अचलो गिरिः निश्चलः निस्तरङ्गः तोयराशिः समुद्र इव आबभौ।' अचलपदस्यावृत्या एकस्य गिरिपदस्य विशेष्यत्वमन्यस्य तोयराशिः विशेष्यत्वमिति बोध्यम्। मत्तसारङ्गः, अत्र अचलस्य विशेषणत्वम्। अचलः उपमेयम् समुद्रश्चोपमानम्। अचलशब्दस्य आवर्तनेन श्लेषेण वा उपमेयः इति न हि उक्तम्, प्रत्युत उपमानं समुद्रस्य विशेषणं जातम्। अस्य टीकाकारस्य अत्रापि कष्टप्रतीतिः।

7.3.3. तिलक–टीकाकारेण श्लोकस्य स्वाभाविकः अन्वयः कृतः। अर्थोऽपि सुसम्यग् विहितः,–"मत्ताः सारङ्गाः यस्मिंस्तादृशोऽचलस्तोयराशिरिवाबभौ।"

अर्थस्य काठिन्यं सहस्राब्दीतः प्रतीयते। पूर्वीयपश्चिमोत्तरीयमध्यदेशीयशाखासु च अस्य श्लोकस्य स्थानापन्नः श्लोकः एवम् अस्ति,–

मेघभेनाम्बुना भूमिर्भूरिणा परितर्पिता।
उन्मत्तशिखिसारङ्गाः बभौ हरितशाद्वलाः।। रा. 382*

अत्र पर्वतस्य पर्वताकाराद् विघ्नाद् मुक्तये सुस्पष्टः प्रयत्नः। प्रतीयते यद्, अयोध्यायाः वर्तमानभूगोलेन सुपरिचिता उत्तरीयशाखा भौगोलिकीं विसंगतिमवगत्य अयोध्यायाः एकाधिकान् पर्वतान् भूमिसात् कृतवती (हरितशाद्वला भूमिः)। बड़ौदासंस्करणस्य सम्पादकेन एतादृशेषु विलक्षणेषु पाठेषु, अर्थेषु च कापि टिप्पणी न टीकिता।

7.3.4. तिलककारकृतः अर्थः अस्माकमभिमतः। वर्षासु पर्वतं परितः जलप्रस्रवणं स्वाभाविकम्। नातिमहान् गिरिश्च जलमयो भूत्वा विशालजलचयरूपम् उपगतः। जलराशिरूपेण समुद्रस्य उपमा सामान्या। परन्तु पृथिव्याः ऊर्ध्वं गतस्य जलराशेः उपमा अभूतोपमा इव प्रतिभाति। धन्या इयं वाल्मीकेः उपमाप्रयोगात्मिका प्रतिभा।

7.3.5. भौगोलिक–काठिन्याद् दाक्षिणात्येतर–शाखाभिः पाठः परिवर्तितः। अयं खलु दुरूहः पाठः। अतः एव मूलपाठः। अस्ति एका अन्या अपि विचित्रा स्थितिः। नाटके रामायणस्य विभिन्नाभिः शाखाभिः भौगोलिकी कठिनता अनुभूता। पर्वताश्च दूरीकृताः। 'जानकीहरणम्' इति काव्ये कुमारदासेन तु अयोध्ययामेव हिमालयः आनीतः।

7.4.0. अष्टापदपर्वतः—रामायण-अध्ययनशालायाः अनुसारेण कुमारदासस्य अस्य परिवर्तनस्य अस्ति अन्यदपि कारणम्। सुसम्भवं यद् वाल्मीकीये रामायणे पर्वतस्य वर्णनम् अयोध्यायां पर्वतस्थितेः लोकपरम्परापि च कुमारदासस्य परिवर्तने सहायकम्। अयम् 'अष्टापद' पर्वतः जैनपरम्परायां, जैनेतरसाहित्ये च अन्वेषणीयः। अपि अयोध्यायाः अतिरिक्तोऽपि अयं पर्वतः? अष्टापद'शब्दस्य अयोध्यया प्राचीनः सम्बन्धः। तथा हि–

चित्रामष्टपदाकारां वरनारीगणैर्युताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्।

(रा., बड़ौदा सं. 1.5.16; बम्बई सं. 1.5.16)। अदाक्षिणात्यपाठे अत्र इदं श्लोकान्तरम्,–

विमानचयसम्बाधामिन्द्रस्येवामरावती।
अष्टापदपदालेख्यैर् रम्यामालिखितामिव।।

अत्र 'अष्टापदपदालेख्या' पाठः अपि संभाव्यते। अर्थाद् 'अष्टापद'-पर्वतस्य पादमूले आलिखिता नगरी। अत्र सम्भाव्यन्ते अनेकाः कल्पनाः। विवाहादिषु नायकस्य पादौ अपि अलक्तकादिना रज्यते एव। एतस्याः एकस्याः अन्यव्याख्यायाः चेष्टा वैदिकसाहित्ये, या अयोध्यायाः विशेषरूपेण प्रतीयते। रामायण-अध्ययनशालायाः मतेन न हि असंभवं यद् अस्माद् वाल्मीकेः पाठः सुप्राचीनः। अयोध्यायाः अस्मिन् एव वर्णनप्रसङ्गे एकमन्यदपि पाठान्तरं संग्राह्यम्–

आरोहमिव रत्नानां प्रतिष्ठानमिव श्रियः।
महाप्रासादशिखरैः शैलाग्रैरिव शोभिताम्।।

(रा., बाल. 230* पंक्ति-21-22)। अत्र d चरणस्य 'इव' इत्यस्य पाठान्तराणि,—उप-S1 B4 (alroas in text), D 13, चोप D11, एवमत्र वंगीयशाखायाः B4 हस्तलेखेन समर्थितः पाश्चात्य-(कश्मीर)-पाठः 'उपशोभितां' एव पाठः। 'उप' इत्यस्य 'इव' परिवर्तनं भौगोलिक-असंगत्या कृतम्। अस्य संशोधनम् उपरि चर्चितेन अयोध्याकाण्डस्य श्लोकानां पाठ-परिवर्तनेन करिष्यते। उभयोः स्थलयोः पाठपरिवर्तनं मध्यदेशीयैः, अयोध्यायाः भूगोलस्य वर्तमानया असंगत्या परिचितैः च कृतम्। इदमेव कारणं यद् दाक्षिणात्यपाठे अत्रापि अस्य चरणस्य पाठः अक्षुण्णः जातः,–

प्रासादैः रत्नविकृतैः पर्वतैरुपशोभिताम्।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम्।। (रा., बड़ौदा सं.-1.5.1.15)।

अत्र भौगोलिकी विसंगतिः टीकाकाराणां हि कष्टदायिनी। श्रीगोविन्दराजेन 'पर्वतैः क्रीडापर्वतैः' उक्त्वा तोषितम्। अस्य एव अनुगमनं 'कतकेन' कृतम्। शिरोमणिकारस्तु

'क्रीडोपयुक्तगिरिभिः' इत्युक्तवान्। अत्र प्राकृतिको गिरिः, कृत्रिमो वा इति न स्पष्टोल्लेखः। 'पर्वतैः' अर्थात् 'पर्वतसदृशैः प्रासादैः' इति नागेशभट्टस्य समाधानम्।

एवं रामायणे, परवर्तिसाहित्ये, जैन परम्परायाम्, अयोध्यायाः लोकपरम्परायां चापि पर्वतानां स्थितिः सिद्ध्यति। यदि टीकाकाराणां कृत्रिमपर्वते एव आग्रहः तथापि अग्रिमविवेचनाय पर्याप्तमिति।

7.5.0. रामस्य अशोकवाटिका—अयोध्यायां पर्वतानां परम्परा अधीता। इदानीं प्रकृतम् 'अशोकवाटिकायाः अध्ययनम्' अनुसरामः। अस्माभिः अशोकवाटिकायाः 41 सर्गस्य अध्ययनम् अयोध्यामाहात्म्यस्य अशोकवाटिका–तिलोत्तमा–मणिपर्वतानां संरचनापरिवेशम् आधृत्य करिष्यते,–

सर्वप्रथमम्, इदमेव उल्लेखनीयम्, 9 तमस्य श्लोकस्य d चरणस्य अदाक्षिणात्य-पाठः,–'सीतार्थमुपकल्पिताः'। कश्मीरपाठः अन्यपाठः च हस्तलेखेषु–'शीतार्थमुपकल्पिताः' सन्ति। M6 हस्तलेखे 'उपकल्पितां' पाठः। अत्र वाल्मीकेः केन शुद्धेन पाठेन भवितव्यम् इति अस्माकं न विचारविषयः। अयोध्यामाहात्म्यस्य, स्थानीयपरम्परायाः च अध्ययनाय मध्यदेशीयपाठपरम्परा अतीव उपयोगिनी। 'सीतार्थमुपकल्पिता' तथा 10 तमस्य श्लोकस्य cd चरणयोः 'रामस्य काननम्' पदेन निम्नलिखिताः निष्कर्षाः प्राप्यन्ते,–

7.5.1. दशरथस्य समये अशोकवनिका नासीत्, स्वयमेव रामेण विनिर्मिता सा।

7.5.2. सीतायाः अनुरोधेन अशोकवाटिकायाः निर्माणम्। अयोध्यामाहात्म्ये सीतया अशोकवाटिकायाः सम्बन्धपरम्परा सीताकुण्डरूपेण सुरक्षिता। अस्य साक्षात् प्रमाणं तत्र सीताकुण्डस्य उपस्थितिः, प्राचीनता च।

7.5.3. अशोकवनिकायाः निर्माणस्य प्रेरणा, मन्ये लङ्कायाः अशोकवाटिकया प्राप्ता। डॉ. बाकरेण अपि अत्र सुन्दरकाण्डस्य अशोकवाटिकायाः छाया स्वीकृता।

अनेन प्रकारेण अशोकवनिकायाः अशोकवाटिकया सार्द्धं तुलनात्मकम् अध्ययनमावश्यकम्। एतादृशीषु रचनासु प्रकृतेः अनुकरणेन कृत्रिमाणां रचनानां स्थानम्। लङ्कायाः अशोकवाटिकायां,–'राजतैः काञ्चनैश्चैव पादपैः सर्वतो वृताम्' (रा., बड़ौदा सं.5.12.5 cd)। तथा अयोध्यायाः अशोकवनिकायाम्–'अकालपुष्पास्तरवः शिल्पिभिः परिकल्पिताः' (7.789*)।

एवम् उभयोः अशोकवनिकयोः विधानं, प्रेरणा च एकैव। अत्र अस्माभिः केवलम् अयोध्यायाः अशोकवनिकायाः एव अध्ययनं करिष्यते,–

7.6.0. तिलोत्तमादीर्घिका—रावणस्य अशोकवाटिका एतादृशी आसीत्,–

कृत्रिमां दीर्घिकां चापि पूर्णां शीतेन वारिणा।

मणिप्रवरसोपानां मुक्तासिक्त-शोभिताम्।। रा., बड़ौदा सं. 5.12.33

अदाक्षिणात्यशाखायां a चरणस्य; 'कृत्रिमां च नदीम् अन्याम्', 'रम्यां, दिव्यां, पुण्यां, चान्यां' च पाठः। मूलपाठः नदी स्यात् दीर्घिका वा, अत्र न हि विशेषः, उभयोः पर्यायत्वात्। 'कृत्रिमा' शब्देन च 'नदीमन्या' इत्यस्य अधिका सम्भावना, यतो हि दीर्घिका तु कृत्रिमा भवत्येव, पूर्वमेव एका नदी वर्णिता। अतएव 'अन्यां' पदस्य सार्थक्यम् (श्लो.29-31)। 'नदीं, अन्यां'इत्यत्र असन्धिपाठाद् विमुक्तये 'मन्यां' रम्यां, चान्यां, दिव्यां, पुण्यां इत्येतेषां पाठानां सम्पुष्टिः जायते। अर्थतः कृत्रिमा नदी एव दीर्घिका। अत्र भवति निरन्तरं जलप्रवाहः। दीर्घिकायाः अर्थः 'डॉ. वासुदेवशरणअग्रवाल'-महोदयेन 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन' (सं.1, पृ. 206) पुस्तके लिखितः। तत्र राजकुलस्य वर्णनप्रसङ्गे एकेन प्रमाणेन इदं निभ्रान्तं साद्ध्यते।

एवं नष्टायां खलु प्राचीनपरम्परायाम् अस्य 'वापी' अर्थे प्रयोगः सञ्जातः। रावणस्य अशोकवाटिकायां वाप्याः पृथक्त्वेन वर्णनम्,-'वापीश्च विविधाकारा (रा., बड़ौदा सं. 5.12.22a)। दीर्घिका (नहर) कृत्रिमा एव भवति। तथापि 'कृत्रिमा' विशेषणमत्र सप्रयोजनम्। तच्च इदम्,-अशोकवाटिकायाः दीर्घिका मणिसोपानमयी, बालुकामयी चेति 'कृत्रिमा' विशेषणं परमावश्यकम्। लङ्कायाः वाटिकया अस्याः तुलनायां साम्यं स्फुटम्,-

दीर्घिका विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा।
महार्हमणिसोपान-स्फटिकान्तरकुट्टिमाः।।
फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिता।
प्राकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः।।
तत्र तत्र वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः।
शाद्वलैः परमोपेताः पुष्पितद्रुमसंयुता।। (रा., बड़ौदा सं. 7.41.7,8,9)।

किन्तु अत्र बहुवचनं, न तु एकवचनम्। अयोध्यामाहात्म्यस्य OA (प्रकीर्ण) शाखायाम् अयं श्लोकः उद्धृतः। अयोध्यामाहात्म्यस्य अस्याः शाखायाः सम्पादने O1, O2 इति द्वयोः हस्तलेखयोः, तथा च मुद्रितस्य A पुस्तकस्य प्रयोगः कृतः अस्ति। O1 हस्तलेखे d चरणे 'पूर्णा' इत्येकवचनस्य प्रयोगः। 8-ab चरणयोः मध्ये 791* प्रक्षिप्त संख्या अस्ति,-

फुल्लपद्मोत्पलवनाः चक्रवाकोपशोभिताः।
प्राकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः।।8।।
तत्र तत्र वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः।
शाद्वलैः परमोपेताः पुष्पितद्रुमसंयुताः।।9।।

8 तमस्य श्लोकस्य b चरणे A इत्यस्य 'शोभिताः' पाठः। 9 तमस्य श्लोकस्य c चरणे अयोध्यामाहात्म्ये 'परमैर्युक्ता' पाठः O1, 2 उभयोः हस्तलेखयोः। केवलं O

हस्तलेखे 'परमैर्युक्ता' पाठः। अयोध्यामाहात्म्यस्य 9 तमस्य श्लोकस्य d चरणे 'पुष्पितद्रुमकाननाः' पाठः। अत्रापि O1 हस्तलेखे काननाः, तथा O2 हस्तलेखे 'का न वा' इति पाठः।

7.6.1. एवम् अयोध्यामाहात्म्यस्य त्रिसृषु शाखासु, एकाधिकस्थलस्य एकवचनान्तः पाठः। आश्चर्यं यद् बडौदासंस्करणे त्रिंशत् हस्तलेखाः प्रयुक्ताः। तत्र कुत्रापि एकवचनान्तस्य न हि प्रयोगः। अयं खलु आश्चर्यस्य विषयः। एतदर्थं बडौदासंस्थानं प्रार्थ्यते, पुनरपि हस्तलेखान्, हस्तलेखच्छायाः वा अवलोकयितुम्, संसूचयितुं च। 9 तमस्य श्लोकस्य c चरणे,–'परमोपेताः' इत्यस्य स्थाने 'उपसम्पन्ना' पाठः B2 (Second time) D2,3,9 हस्तलेखेषु, 'उपलम्ना'. पाठः N1 हस्तलेखे, 'उपछन्ना' पाठः–V1, D1–4 हस्तलेखे, 'परमैर्युक्ताम्' पाठः D5,7 T4 हस्तलेखे, 'परमोपेतां' पाठः D10, 11, M 4–6, 8, 10 cgt हस्तलेखे, तथा च 'मृदुभिर्युक्तां' पाठः M1 हस्तलेखे प्राप्यते। एते सर्वेऽपि एकवचनान्ताः, परन्तु द्वितीयान्ताः। बहु संभवं यत्, मूलपाठः एकवचनान्तः स्यात्। परन्तु पूर्वस्थेषु श्लोकेषु आसीद् बहुवचनान्तम्। अतः इमां द्वितीयां 11 तमस्य श्लोकस्य एकवचनेन योजितवन्तः ते।

7.6.2. परन्तु नवमस्य श्लोकस्य द्वितीयां विभक्तिं 11 तमेन श्लोकेन योजयित्वा, दूरान्वयदोषोऽपि नोपयुक्तः स्यात्। मण्डूकप्लुतेः कल्पना अपि असम्भवा एव। अतः वक्तुं शक्यते; यत् मूलपाठः सर्वत्रैव प्रथमा-एकवचनान्तः एव स्याद्भूतः। 'विविधाकाराः' इत्यत्र 'विविधा' पदस्य हेतोः विविधायाः दीर्घिकायाः भ्रान्तकल्पना उत्पन्ना। वस्तुतः दीर्घिका एका एव, या वाटिकायाम् अनेकेषु क्षेत्रेषु भ्रमन्ती ज्यामितिकरूपेण प्रवहति स्म। यदि चेत् मणिपर्वतस्य समीपे प्रवहमाना तिलोदकी (तिलोत्तमा) बाकरेण चित्रिते मानचित्रे अवलोक्यते (अ.मा. I. पृ. 16), तदा विविधाकारायाः कुल्यायाः रहस्यम् उद्घाटितं स्यात्। एवं च सिद्ध्यते एकवचनान्तत्वं 'विविधाकारा' इत्यस्य। सति प्रयुक्तेऽपि बहुवचने, कुल्या वस्तुतः एका एव तत्र स्वीकर्तव्या।

8.0.0. कुल्यायाः सरय्वा सम्बन्धः—रामस्य अशोकवनिका, रावणस्य अशोकवाटिकया समा। तत्रापि अस्ति किमपि वैशिष्ट्यम्। रावणस्य दीर्घिका, शीतेन वारिणा पूर्णा आसीत्। रामस्य तु 'पूर्णा परमवारिणा'। इत्यस्य अभिप्रायः पवित्रेण सरयुजलेन इति पूर्वमेवोक्तम्। रावणस्य नगर्यां 'परमवारि' इत्यस्य अभावः स्वाभाविकः, अस्यैव अभावस्य पूर्तये रावणेन विविधानां तीर्थानां जलमानीतम्, वापीषु निक्षिप्तं च। तथा हि—

वापीश्च विविधाकाराः पूर्णाः परमवारिणा।। (रा., बड़ौदा सं. 5.12.22.ab,)

B1 हस्तलेखे 'परमवारिणा' अत्र 'विविधवारिणा' पाठः उपलभ्यते। सम्भवतः मूले आदर्शे 'विविध'-शब्दः अर्थस्य बोधाय पार्श्वस्थ–टिप्पणीरूपेण स्थितः भूतः। अनेन अस्माकम् अर्थः पुष्यते। मन्ये, कालान्तरे अयं मूलपाठः स्याद्भूतः। रामस्य तिलोत्तमा सरय्वा सम्बद्धा, अतः अत्र सरय्वाः नैसर्गिकः जलप्रवाहः।

8.1.0. तिलोत्तमाकुल्यायाः जलस्य रूपम्—अयोध्यामाहात्म्ये अस्याः तिलोदकी अपि नाम। जलस्य श्यामता एव तत्र हेतुः। इदं परवर्तिकालस्य वर्णनम्। यतो हि साक्षात् सरय्वा सम्बन्धे सिद्धे तु अस्याः कृष्णजलत्वं सर्वथा असम्भवम्। सरयुजलं गङ्गाजलादपि शुभ्रम्। अतः एतस्याः प्राचीनं नाम तिलोत्तमा एव, नं तु तिलोदकी। तिलोत्तमायाः गौरतायां न हि कस्यचिद् मनागपि सन्देहः। तत्र सन्ति हेतवः–

(i) इयं हि जलस्य अपसरण–प्रणालिका। अतः अस्याः अप्सरा इति अन्वर्थसंज्ञा। यया सुप्रसिद्धायाः तिलोत्तमानाम्न्याः अप्सरसः संज्ञया अभिहितम्।

(ii) 'तिलोत्तमा'नाम्न्या अप्सरसा अस्य वर्णसाम्यमि'ति उपरि विवेचितम्।

(iii) इयं खलु सीतारामयोः समक्षम् अनेकाभिः आकृतिभिः नृत्यन्ती सती प्रवहति स्म। अतः अस्याः नृत्याङ्गनानाम्ना प्रसिद्धिः न प्रतिकूला।

8.2.0. तिलोत्तमाकुल्यायाः प्रयोजनम्–उपरि अशोकवनिकायाः सम्बन्धे विवेचितम्। अद्यापि इयं तिलोत्तमारूपेण अशोकवनिका–मणिपर्वतयोः मध्ये विराजते। अतः सुस्पष्टम् यद् अशोकवनिकायाः सौन्दर्याय श्रीसीतारामभ्यां निर्माणमस्याः कारितम्। परन्तु अयोध्यामाहात्म्ये श्रीरामस्य सैन्धवघोटकानां जलपानमेव एतस्याः परमं प्रयोजनमभिहितम्। इयमपि परम्परा अस्माकं कल्पनामेव अन्वेति। सम्भाव्यते हि रामस्य अश्वशाला अशोकवनिकायाः पूर्वतः स्थिता। अशोकवनिकायाः निर्गत्य अश्वशालया प्रवहन्ती तिलोत्तमा सरय्वा संगता स्याद्। वर्तमानतिलोदकीसरयुस्थितिः तु द्वीपस्थितिमनु। तदा एव सरयु–रामघाट–त्रिपुरारिप्रभृतीनां जनिरभूत्। उपरि चर्चिता खलु सरय्वाः मूलस्थितिः तिलोत्तमाकुल्यायाः स्थितिः। मन्ये तत्र इयं कुल्या अशोकवनिकायाः पूर्वेण निम्नप्रदेशेषु प्रवहन्ती तिलोत्तमा सरय्वा संगता स्याद्। अतः अश्वशालायाः कल्पना अशोकवनिकायाः पूर्वं सुसम्भवा। तथा हि–

रामेण निर्मिता पूर्वं नदी सिन्धुरिवापरा।
सिन्धुजानां तुरङ्गानां जलपानाय सुव्रत।। (अ. मा. II. पृ. 198)

अयोध्यामाहात्म्यस्य अनुसारेण रामेण निर्मिता इयम्। अयोध्यामाहात्म्य-रामायणयोः साम्यम् अत्र आश्चर्यकरम्। वनादागते, प्राप्तराज्ये च श्रीरामे, मन्ये सीताप्रीत्यर्थं निर्मिता स्यादियं कुल्या। अस्मात् पूर्वमियं नासीत्। एतदर्थमेव अस्माभिः सरय्वाः मूलस्थितिः, तिलोत्तमाकुल्यास्थितिः च पृथक्त्वेन वर्णिता।

8.3.0. मणिपर्वतः, रत्नाद्रिः च—रावणस्य अशोकवाटिकायाम् आसीद् एकः पर्वतः। तत्र भूतानि शिखराण्यपि,–

ततोम्बुधरसंकाशं प्रवृद्धशिखरं गिरिम्।
विचित्रकूटं कूटैश्च सर्वतः परिवारितम्।। (रा., बडौदा सं. 5.12.27cd 28ab)

वाल्मीकिना स्वाभाविकः पर्वतः, कृत्रिमः, अथ वा उभौ अपि वर्णितौ इत्यत्र टीकाकाराणां नैकमत्यम्। प्रमदवनेषु क्रीडावनानां परम्परा सनातनी। अत्र,–

8.3.1. 27 तमे श्लोके प्राकृतिकपर्वतस्य वर्णनम्। तस्य शिखरं हि 'अम्बुधरसंकाशम्'। तत्रानेकानि शिखराणि अपि। अस्य श्लोकस्य प्राच्यशाखायां, (N2 V2 B1–3 D6 तथा B4 स्य अतिरिक्तः श्लोकः) स्थानापन्नः अन्यः श्लोको लभ्यते। अस्य अनुसारेण अनेके पर्वताः आसन्–

ताम्मबुधरसंकाशैः प्रवृद्धशिखरैः शुभैः।
विचित्रां चित्ररूपैश्च पर्वतैरूपशोभिताम्।। 379*।।

8.3.2. अत्र प्राच्यः पाठः एव प्रामाणिकः सिद्ध्यते। न हि किमपि कारणम् एकवचनस्य बहुवचनरूपे परिवर्तने। किन्तु बहुवचनस्य एकवचने परिवर्तनस्य कारणं सुस्पष्टम्। अत्र 28,27 श्लोकयोः वर्ण्यविषयः एकः एव। अतएव 28 तमे श्लोके एकवचनस्य वासनया 27 तमे श्लोके अपि एकवचनं परिवर्तितम्। 27 तमः श्लोकः 28 तमश्लोकात् परं पठितम्।

8.3.3. 28 तमस्य श्लोकस्य 'जगति पर्वतस्य' अर्थविषये काचन कल्पना। न जाने किमर्थं बडौदासंस्करणस्य सम्पादकेन 'जगति पर्वत' इति भिन्ने पदे स्थापिते। तेन उद्धृता टीका अस्य पदच्छेदस्य समर्थनं नैव करोति। स्वयमपि तेन स्वकीयायाम् (Critical Noats) टिप्पण्याम् अस्य श्लोकस्य चर्चा अपि न विहिता। विषयेऽस्मिन् प्राचीनतमा दाक्षिणात्यटीका (वरदराजकृता) एव समीचीना, अन्यैः टीकाकृद्भिः समर्थिता च,– 'जगतिपर्वतम्। मृदा प्राधान्येन कृतः क्रीडापर्वतः।' एवमस्माकं कल्पना पोष्यते। 27 तमे श्लोके एकाधिकानां पर्वतानां वर्णनम्, 28 तमे श्लोके च वर्णिता 'टीला', 29 तमे श्लोके वर्णितया नद्या किञ्चिद् बाध्यते–

स ददर्श नगात्तस्मान्नदीं निपतितां कपिः।
अङ्कादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम्।। (रा., बडौदा सं. –5.12.29)।

अस्मिन् विषये अस्माकं निम्नलिखिताः विचाराः सन्ति–

(i) 27 तमस्य श्लोकस्य प्राच्यपाठः एव प्राचीनः। प्राच्यशाखायाः B4 हस्तलेखे 379* तमः श्लोकः अतिरिक्तरूपेण 28 तमश्लोकाद् अनन्तरं पठितः। अस्मिन् पाठक्रमे 29 तमश्लोकस्य नद्याः सम्बन्धः 28 तमश्लोकोक्तेन 'जगतिपर्वतेन' न, अपि तु 379* श्लोकस्य पर्वतानां शोभितप्रदेशेन भवति।

(ii) तथापि उपर्युक्तं समाधानं न पूर्णम्। यतो हि 29 तमे श्लोके 'नगात्तस्मात्' 379* श्लोकस्य पर्वतैः साम्यं नास्ति। प्रतीयते यत् 'नगात्तस्मात्' इति मूलपाठः न स्यात्। अस्य निम्नलिखितानि पाठान्तराणि,–

'निर्गतां तस्या N2; निर्मितां तस्या D6; वनगां रम्यां V2, वनमध्यस्था B1, च नगां तस्यां B2, 'वाटिकां तस्यां' मूलपाठः स्याद्भूतः। 'च नग्नां' तस्य विवृतिः। एवं च अनयोः अनेकाः विवृतयः प्राप्यन्ते। अयं विकृतपाठः अनर्थकः आसीत्। अतः अस्य संशोधनं च 'नगात्तस्मात्', तथा चान्ये सर्वे पाठाः अभूवन्। 'तस्यां' इत्यस्य अर्थस्य अज्ञानमपि परिवर्तने सहायकम्। B3 पाठे 'वाटिका' पदमपि मूल–आदर्शस्य पार्श्वस्थः लेखः एव प्रतीयते 'तस्यां' इत्यस्य अर्थस्य स्पष्टीकरणाय। अनन्तरं मूलपाठे समाहितम्। यद्वा स्यात्, रावणस्य अशोकवाटिकायां पर्वतस्य, मृत्तिकायाः 'टीला'याः च उपस्थितिः सुसिद्धा एव।

8.3.4. रामस्य अशोकवनिकायाः कल्पना लङ्कायाः अशोकवाटिकायाः अनुसारेण। रावणस्य अशोकवाटिकायाः सम्बन्धे उपरि श्लोकद्वयेन विचारितम्। अत्र रामस्य अशोकवनिकायाः सम्बन्धे तावतैव विचार्यते,–

फुल्लपद्मोत्पलवनाश्चक्रवाकोपशोभिताः।
प्राकारैर्विविधाकारैः शोभिताश्च शिलातलैः॥

तत्र यत्र वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः।
शाद्वलैः परमोपेताः पुष्पितद्रुमसंयुताः॥ (रा., बम्बई सं. 7.41.8,9)।

8 तम–श्लोकस्य c चरणे S-N2V3 B1–3 D4, 8, 12 T1 G2 M3, 6 हस्तलेखेषु 'प्राकारैः' इत्यस्य स्थाने प्रासादैः पाठः N1 V1 D2, 3, 9 हस्तलेखेषु 2–8 श्लोकपर्यन्तानां कृते अन्ये श्लोकाः सन्ति (792*)। तेषु श्लोकेषु, श्लोकस्य 8cd चरणयोः साम्यं 792* श्लोकस्य षष्ठया पंक्त्या प्राप्यते,–

'प्रस्तराः पुष्पशबलाः नभस्तारागणैरिव॥'

एवमेतेषु हस्तलेखेषु 'प्राकारैः, प्रासादैः' इत्यस्य वा प्रश्नः एव नोदेति। D1 हस्तलेखे 8 तमः श्लोकः अस्ति एव न। विचारणीयः खलु 'प्राकारैः' एव शुद्धः, अथ वा अन्यः कश्चित्। किञ्च–

(i) सुस्पष्टः खलु, अत्र कश्चित् दुरूहः पाठः। यम् अपाकर्तुं पृथक् पृथक् चेष्टा दाक्षिणात्यपाठैः, प्राच्यपाठैः, मध्यदेशीयपाठैः च कृता।

(ii) अस्मिन् दुरूहपाठे किमपि त्रयाणामक्षराणां बहुवचननान्तं प्रातिपदिकं वा भवेत्।

(iii) सम्भवबाहुल्यं यत् तस्य प्रातिपादिकस्य प्रथमाक्षरस्य केनापि 'प्र' अथ वा 'प' अक्षरेण भवितव्यम्।

(iv) स्यात् नाम एतादृशी संज्ञा, यस्याः संगतिः 8 तमश्लोकस्य 'शिलातलैः' इति पदेन भवेत्।

(v) एवमुपर्युक्तप्रकारेण श्रेष्ठा कल्पना अत्र 'पर्वतैः' इति पाठस्य। अयोध्यायाः वर्तमानभूगोलेन अस्याः असंगतिः एव अस्य पाठस्य असामञ्जस्यम्। इमामेव दुरूहतां लक्ष्यीकृत्य अयोध्याकाण्डे पर्वतस्य वर्णनमपि पाठपरिवर्तनेन अपाकृतम्। अतः अनुमीयते यद् अत्रापि 'पर्वतैः' इति पाठेन एव भवितव्यम्। तथा च तस्य संगतिः रावणस्य अशोकवाटिकायाः वर्णने 'पर्वतैः' इति पदेन जायते।

8.4.0. उद्देशभूमयः,—कृतं च अस्माभिः अशोकवनिकायां पर्वतानां विवेचनम्। भवेत् नाम तत्र विवादावकाशः, न किन्तु कथञ्चित् विवादावकाशः अशोकवनिकायाः उद्देशभूमीनाम् स्थितौ। तथापि तत्र प्रवर्त्यतां प्रथमं किंचित् पाठविचारः। उद्धृतौ च अस्माभिः पूर्वमेव सुन्दरकाण्डस्य–12,27 तमौ श्लोकौ। तस्मिन् तु अशोकवाटिकायां पर्वतः, पर्वताः वा वर्णिताः। तदनन्तरं च श्लोके तत्र मृत्तिकारचितपर्वतस्य वर्णनम्, अत्र तु 8 संख्यके श्लोके पर्वतानां वर्णनम् अस्माभिः संभावितम्। तदनन्तरं च दृश्यते एषः श्लोकः,–

तत्र तत्र वनोद्देशे वैदूर्यमणिसन्निभैः।
शाद्वलैः परमोपेताः पुष्पितद्रुमसंयुताः।। (रा., बड़ौदा सं. 7.41.9)।

प्रथमपंक्तौ तु पाठान्तराणि, तत्र तत्र = तत्रैव च, वनोद्देशे = वनोद्देशा T3G2M1 2, 4, 7, 9; वनोदेशैर् D6 G1 M5, 6 शिलोद्देशैर्। प्रथमचरणस्तु एतेषु हस्तलेखेषु अन्यथा पठितः,–'तत्रोद्देशाः सुरुचिराः ŚŇ N1 B3, 4; 'तत्रोद्देशास्तु रुचिराः N1(प्रथमवारं) यत्रोद्देशाः सुरुचिराः N2, B1, 2; 'तत्रोद्योगाय रुचिराः V1, d चरणे' वैदुर्य० इत्येव उच्चारणं बहुशः हस्तलेखेषु दृश्यते। अन्यानि पाठान्तराणि तु,– वैदुर्यमयसन्निभाः M2 'वैदुर्यमयसन्निभैः M9 वैदुर्यमालसन्निभाः B3 (प्रथमवारं), वैदुर्यमणिसन्निभाः NV1, 3BD 1–4, 9 G2 M2, 4, 7; वैदुर्यमणिशोभिताः ŚD8, 12,। प्रचलिते पाठे तु शाद्वलानि वैदुर्यमणिभिः उपमितानि। हरितवर्णः तत्र सामान्यधर्मः– वैदुर्यमणिसन्निंभैः शाद्वलै हरिततृणैः ... ' इति गोविन्दराजः। अत्र वैदुर्यमणेः हरितत्वं नितरां चिन्त्यम्।

हस्तलेखानां परम्पराभिः अपि 'वैदूर्यमणिसन्निभाः' इत्येव पाठः सबलः इति अनुमीयते। एतस्य पाठस्य दुरूहता प्रमाणीक्रियते कश्मीरशाखायाः 'शोभिताः' इति संशोधनेन। तर्हि तावत् 'वैदूर्यमणिसन्निभाः' इति विशेषणस्य विशेष्यम् अन्वेष्टव्यम्। एतत्कृते प्रथमचरणस्य पाठोद्धारः अपेक्षितः। दाक्षिणात्य–अदाक्षिणात्यशाखानां

पाठसमन्वयेन अत्र–'तत्र (यत्र) तत्र सु उद्देशाः' इत्येव पाठः लभ्यते। अत्र तु मृत्तिकाविरचिताः उच्चैः भूमयः वर्णिताः। लोके ते 'टीला' इत्यादिभिः शब्दैः अभिधीयन्ते। एष एव मन्ये सुन्दरकाण्डे,–'जगतिपर्वतपदेन सूचितम् (श्लो. 28)। अत्र ते उच्चभूमयः लघुपर्वताकाराः वैदूर्यमणिशोभिताः इति न कविना वर्णितम्, न हि नाम उच्यते कविना ते पर्वताकाराः, मणिभिः भूषिता वा इति। अपि तु ते स्वयमेव वैदूर्यमणेः आकरेण विरचिताः इति ज्ञायते। तेषां दर्शनेन 'अयं महदाकारः कोऽपि वैदूर्यमणिः' इति संभ्रमः सञ्जायते स्म। तेषां सम्पूर्णरचना एव वैदूर्येण कृता इति तु सम्भवतितराम्। रावणस्य अशोकवाटिकायां मृत्तिकापर्वताः, अत्र तु महामणि–आकाराः विद्रुमभ्रमोत्पादकाः उद्देशाः वर्णिताः, इति तु विशेषः रामस्य अशोकवनिकायाम्। ईदृशानां वनोद्देशानां (टीलानां) संज्ञा 'महामणि' इति भवितुम् अर्हति। अशोकवाटिकायां हि तिलोत्तमादीर्घिकायाः तटे स्थितः अयं प्रदेशः, अद्यापि मणिपर्वतक्षेत्रेण संज्ञायते। तदनु एव कुबेरपर्वतः, सुग्रीवपर्वतः च अद्यापि दृश्येते। 'महामणि' शब्दस्य उत्तरपदं मणिपर्वतः इति प्रचलितसंज्ञायाम् राराज्यते (अ.मा. प्रकीर्णशाखा, बाकरः, II. पृ. 213–17)। पूर्वं पदं तु एतस्य प्राचीनानां 'महारत्न' इति संज्ञायां दरीदृश्यते। कदाचित्तु भुशुण्डीरामायणस्य 'रत्नाद्रि' संज्ञा एतस्य वाल्मीकिवर्णितस्य महाविद्रुममणेः स्यात्।

8.5.0. सौगन्धिकं वनम्—रामस्य अशोकवनिकायां सौगन्धिकं पर्वतं, वनं च आसन्—रामायणस्य 7.41.10 श्लोकस्य प्रचलितः पाठः बडौदासंस्करणाद् उद्धृयते,—

नन्दनं हि यथेन्द्रस्य ब्राह्मं चैत्ररथं यथा।
तथा रूपं हि रामस्य काननं तन्निवेशितम्।।

अत्र तु न हि कश्चिद् विशेषो लक्ष्यते। किन्तु प्राचीनतमे N1 हस्तलेखे 'काननं' इत्यस्य स्थाने 'कानने' पाठः विलक्षणः। तत्रत्यस्य सप्तमीविभक्तेः प्रतिध्वनितम् इव श्रूयते V1, 3 D1 2, 4, 9 हस्तलेखानां निवेशने इति पाठः। एतेषां हस्तलेखानां यथास्थितिः पाठः तु न स्वारस्यकरः प्रतीयते। सती किन्तु एतस्य संगतिः सप्तम्यन्तेन 'कानने' इति पदेन। 'कानने' इति सप्तम्यन्तस्य पाठस्य पक्षे 'तन्निवेशितं' शब्दस्य 'तत्' पदम् असंगतिकरम्। जायेरन् खलु अत्रापि हस्तलेखाः अस्माकं साहाय्याः। S-Ň2 V1, 3 D 2, 38–12 T1, 2 G 3, 10 Cg KT कोशेषु सन् इत्येव पाठः दृश्यते। T3 कोषे तु 'यन्' इति पठ्यते। अतो हि सन् इत्येव सशक्तः पाठः, सर्वासु परम्परासु दृश्यमानत्वात्। लक्षयितव्यं यत् तेषु अपि कोशेषु 'सन्' पाठः दृश्यते, येषु न अद्य सप्तम्यन्तः पाठः श्रूयते। व्यतिरेकेण अनुमातुं शक्यते यत् एतेषु अपि हस्तलेखेषु सप्तम्यन्तः पाठः। 'निवेशितं' पदस्यापि भूरिशः दृश्यन्ते खलु पाठान्तराणि। तानि तु तावत्,-निवेशनं D 3, 10, 11, T 2 G 3 M 5 Cg K T, निवेदितं T 3, निवेशने V1,

3 DI, 2, 4, 9 सम्पूर्णचरणस्यापि पाठान्तरं लभ्यते,-'काननं मुनिसेवितं' T4, कारणात्तां M 6।

चतुर्थचरणे 'कानने सन्निवेशितं', 'कानने सन्निवेशिते' वा पाठः मूले भूतः। पाठान्ताराणि तु कोमलमतिभिः कृतानि, अर्थस्तु तावत्,–'चैत्ररथादिकं यथा वनं तथा रूपं (तत्प्रतिकृतिस्वरूपं) रामस्य कानने सन्निवेशितम्, अथ वा यथा चैत्रादिकं (वनं) तथा रूपं रामस्य सुनिवेशिते कानने वर्तमानाः (भूताः) वा।

स्यादेतद्। एषः एव प्राचीनः पाठः, अर्थः च। भुशुण्डीरामायणस्य परम्परायां मणिपर्वतस्य (महारत्नस्य) प्रकरणे,—"**तथा सौगन्धिको नाम गिरिराजः प्रतिष्ठितः**" इति श्लोके स्मर्यते (1.102.108)। कुबेरस्य चैत्ररथं नाम एव वनं सौगन्धिकनाम्ना अपि ख्यातम्।

सत्योपाख्याने शेषाचलनाम्ना ख्याते एतन्मणिपर्वतप्रदेशे सौगन्धिकस्य जलस्य उल्लेखः कृतः (सत्यो.)। अद्यापि वाल्मीकिवर्णितस्य कुबेरलोकस्य पर्वतवाटिकादीनां कृत्रिमा अनुकृतिः एतत्क्षेत्रस्य कुबेरपर्वतेन संस्मार्यते।

9.0.0. निष्कर्षः,—अस्माभिः सीताकुण्डम्, अशोकवाटिकां प्रति च विचारितम्, विवेचिता च तिलोत्तमादीर्घिका। मणिपर्वतस्य पर्वतक्षेत्रमपि वाल्मीकीये रामायणे अन्विष्टम्। महामणि–आकाराः उद्देशाः अपि अशोकवाटिकायाम् अस्माभिः दृष्टाः। विचारितं च सौगन्धिके वने च पर्वतकौबेरे। स्पष्टं हि यद् एताः सर्वाः रचनाः रामस्य अशोकवाटिकायाः एव अङ्गभूताः, तत्रैव सन्निवेशिताः। एतत् सर्वम् अस्माभिः रामायणस्य विनष्टैः पाठैः अपि प्रमाणितम्। अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णशाखायां तु अशोकवनिकया सम्बद्धा वाल्मीकीयाः श्लोकाः उद्धृताः, ते सर्वे पूर्वोक्ताः पाठाः न तत्रापि दृश्यन्ते। दृढं खलु वक्तुं शक्यते यद् अयोध्यानगर्याम् अद्यापि दृश्यमानानि इमानि स्थलानि मध्ययुगे न विचारितानि। सीताकुण्डस्य प्राचीनत्वं तु तीर्थकल्पस्य उल्लेखे न साक्षात् सिद्धम्। सुप्राचीनकाले अपि केनापि राज्ञा रामायणं पठित्वा तदनुसारेण च विभिन्नानि वनानि, तिलोत्तमानाम्नी कृत्रिमा नदी च विरचिता इति तु न विश्वस्यम्। सुनिश्चितं खलु, एतानि भौगोलिकसंस्थानानि वास्तविकानि, तानि एव वाल्मीकिना कीर्तितानि, तेषाम् एव खण्डिताः स्मृतयः लोकपरम्परासु विभिन्नेषु ग्रन्थेषु यत्र तत्र, अस्तव्यस्ताः च दृश्यन्ते। तानि एव अस्माभिः संगृहीतानि।

9.0.1. डॉ. बाकरेण अनुमीयते यद् मणिपर्वतस्य, अशोकवाटिकायाः च कल्पना रामभक्तेः मधुरसम्प्रदायस्य प्रभावजा। सा तु तेन 16–17 शताब्दीकालिकी मता। एतेषां स्थलानां प्रति विशेषानुरागः मधुरसम्प्रदाये कामं भवेत्, स्यादपि तेषामनुरागः रामायणस्य एतेषु प्रासङ्गिकेषु श्लोकेषु अपि। किन्तु किमेतेन, एतेषां स्थलानां, वाल्मीकिश्लोकानां च कर्तृत्वमपि मधुरसम्प्रदाये प्रतिष्ठापयितव्यम्? अस्माभिः सुदर्शितं यद् मध्ययुगे एषां

वाल्मीकीया परम्परा बहुशः विभ्रष्टा। एतस्य सर्वस्य परिगाहनं अद्यैव रामायणस्य विभिन्नप्रदेशात् पाठसंग्रहेण एव सुसंभवम्। न नाम शक्यम् एतत् मध्ययुगेषु। पुनश्च सीताकुण्डस्य, तत्र स्थितायाः वाटिकायाः स्थितिः प्रमाणीक्रियते। जैनग्रन्थेषु अपि तस्मिन् काले मधुरसम्प्रदायस्य स्थितिः एव न कल्पनीया। पुनश्च, स्वयमेव डॉ. बाकरेण आश्चर्यमनुभूयते यद् भुशुण्डीरामायणे रामस्य लीलाविहारस्य द्वादश वनानि वर्णितानि, न हि किन्तु तत्र अशोकवाटिका चर्चिता अपि। वस्तुतस्तु एतेषां कल्पना मधुरसम्प्रदायकृतका इति सिद्धान्तः एव निराधारः।

9.0.2. अपि च मन्यते, डॉ. बाकरेण यद् मणिपर्वतः वस्तुतः बौद्धस्थलं, महारत्ननामकम्। तत्र मौर्यकालिकाः ध्वंसावशेषाः बाहुल्येन लभ्यन्ते। तत्र बौद्धविहारादिकस्य तस्मिन् काले अवस्थाने न कापि विप्रतिपत्तिः, किन्तु तस्य स्थानस्य बौद्धमूलकत्वं तु चिन्त्यम्। एतस्मिन् प्रसङ्गे डॉ. बाकरेण एकः एव गमकः (ज्ञापकः) निर्दिश्यते। स तु तस्य 'महारत्न' इति नाम। बौद्धदर्शने विशेषा खलु त्रिरत्नस्य कल्पना बौद्धस्थलानां नामसु, बौद्धग्रन्थानां नामसु च बहुत्र बौद्धसाहित्येषु च 'रत्न'शब्दः दृश्यते। अतो हि महारत्नस्य बौद्धमूलकत्वं डॉ. बाकरेण स्वीकृतम्। ज्ञेयं किन्तु अत्र यद् इदानीन्तनं ज्ञौद्धसाहित्ये वर्णितः साकेते बुद्धस्य आवासः न कुत्रापि महारत्नसंज्ञया ज्ञापितः। न वा परवर्तिषु बौद्धसाहित्येषु। रत्नशब्दमात्रेण चेद् बौद्धमूलकत्वं सिद्ध्येत् तर्हि किम् रत्नाकरः अपि बौद्धैः एव खानितः मन्तव्यः। अपि वा अरे! रत्नावली नाम नायिका अपि बौद्धपरिचारिका एव मन्येत, रत्नावलीशब्देन त्रिरत्नस्य परामर्शकत्वात्। न हि नाम 'रत्न' शब्दः बौद्धानाम् अवदानभूतः, सम्पत्तिः वा। वस्तुतस्तु उपरि निर्दिष्टमस्माभिः एतस्य रामायणमूलकत्वम्। बौद्धसाहित्ये एतस्य स्थलस्य महारत्न इति नाम चेद् लभ्येत तदा अपि एतस्य रामायणपरम्परामूलकत्वम् अक्षतं तिष्ठति। प्राचीना परम्परा एव बौद्धैरपि एतस्य नामकरणे संरक्षिता इत्येव साधु मन्तव्यम्।

9.0.3. अयोध्यायाः भूगोलपरिवर्तने हेतुः इदानीं विचार्यते। एतादृशानां परिवर्तनानां किं कारणम्। द्विविधं परिवर्तनं प्राधान्येन लक्ष्यते,—

(1) रामेण निर्मिताम् अशोकवनिकामभितः प्रवहमाना एका तिलोत्तमा नाम्नी कुल्या। सा हि सरय्वाः अभिनिःसृता, पुनरेव सरयुमेव संगता। कालान्तरे सरयुप्रवाहस्य जलं तिलोत्तमायामेव प्रवाहङ्गतम्। मूलधारा तु क्रमेण शुष्यमाणा विलुप्ता। तदनन्तरं च पुनः सरय्वाः मूलप्रवाहमेव अनुसृतम्। उपसरयुरूपा तिलोत्तमा तदानीं जलाभावेन शुष्का जाता।

(2) वाल्मीकिकाले गोप्रतारात् सर्वथा भिन्ना घर्घरासंगमस्य स्थितिः। कालान्तरे संगमस्य क्रमेण गोप्रतारं निकषा संक्रमणम्। तदनन्तरं च पुनः घर्घरासंगमस्य मूलप्राचीनस्थानं प्रति संक्रमणम्।

अस्माभिः अत्र द्वयोः परिवर्तनयोः कार्यकारणसम्बन्धः अनुमीयते। मन्ये, द्वितीयं परिवर्तनमेव प्रथमस्य कारणम्। डॉ. बाकरस्य मतेन तिलोत्तमाधारा (तिलोदकी) फैजाबादस्य पश्चिमभागे 'मंगलसी' 'परगना'यां सरयुतः विनिर्गच्छति स्म। मूलतः सरयुः घर्घरायाः पश्चिमदिग्भागे दूरे स्थिता। मन्ये, यत् तिलोत्तमाकुल्या कदाचिद् गोप्रतारात् निकटतरस्थले सरयुतः विनिर्गच्छति स्म। अत्र हेतुः उपरिष्टात् निर्दिष्टः।

9.0.4. 'मंगलसी' 'परगनायाः' पश्चिमदिशि 'घृताचीतीर्थे' सरय्वाः एका धारा घर्घरया संगम्यते। अयमेव संगमः प्राचीनकाले घर्घरासरयुसंगमः इति ख्यातः (अ.मा. II. पृ. 400–401, 407–408)। इयं सरयुधारा डॉ. बाकरेण सरयुः इति अभिहितम्। इदानीं तु इयं खलु मन्दप्रवाहा, अल्पजला च। पुराकाले सरयुः सरयु–धारया संप्रयुक्ता। तदा इयं धारा असंशयं खलु जलावेगेन परिपूर्णा आसीद् इति अनुमेयम् (द्र. अ. मा. I. पृ. 48, तत्रस्थं मानचित्रञ्च)। अस्माभिः पूर्वमेवोक्तं यद् इयमुत्तरतः दक्षिणमभि प्रवहमाना। घर्घरा तु पश्चिमतः पूर्वमभि प्रवहमाना। संगमात् परमपि द्वयोः संयुक्तः प्रवाहः पूर्वमभि एव चक्रम्यते। 'मंगलसी' 'परगना'मतिक्राम्यता तया फैजाबादे हठाद् उत्तराभिमुखं परावर्त्यते। गोप्रतारमतिक्रान्त्वा पूर्वं प्रवाहमानया तया अयोध्या अभिगम्यते। 'मंगलसीफैजाबादयोः मध्ये सरयुतः यत्र कुत्रापि तिलोत्तमाकुल्या दक्षिणपूर्वाभिमुखम् अपस्रियते स्म। क्रमेण, सरयुसंगमः (घृताचीतीर्थस्थः) गोप्रतारमभि संक्रान्तः। अञ्जसा अनुमेयं हि यद् यदा अयं संगमः तिलोत्तमाकुल्यायाः मूलं प्राप्तः तदा उत्तरतः सवेगं प्रवहमानेन सरयुजलेन दक्षिणपूर्वाभिमुखं प्रवहमानायाम् उत्तमाकुल्यायां जलापूरः बलवत् सुवर्धितः स्यात्। प्रायेण सरयुघर्घरयोः सम्मिलितप्रवाहस्य उत्तमा कुल्या एव प्रधानमार्गतां गता। इयमेव उपसरयुधारा जलप्रवाहस्य कियता अंशेन गोप्रतारं प्राप्यते स्म। किन्तु तस्मात् पूर्वतः स्थितानि स्वर्गद्वारपर्यन्तानि प्राचीनानि सरयुतीर्थानि शुष्कतां गतानि। कालान्तरेण पुनः सरयुघर्घरसंगमः स्वकीयं मूलस्थानं प्रतिक्रान्तः। तदा उपसरयुधारा–गता उत्तमा कुल्या शनैः शनैः तिलोदक्यां रूपान्तरिता। डॉ. बाकरेण 'मंगलसी' 'परगना'यां तिलोदक्याः सरयुतः उद्गमः अनुमितः। किन्तु स उद्गमः तत्र पूर्वदिशि वृतः, यत्र पूर्वाभिमुखं मार्गयमाणया सरयुधारया फैजाबादस्य समीपं, गोप्रतारमभिसर्तुं सहसा उन्मुखीभूयते। ततः एव पुरा उत्तमाकुल्या प्र अपकृष्टा। अत्र हेतुः,–

9.0.5. (i) अशोकवनिकायां जलानयने ततः एव सुकरतरम् अनुमीयते। स्वयमेव पूर्वाभिमुखधारायाः एका कुल्या दक्षिणेन पूर्वाभिमुखं निःसृता।

(ii) इयमेव कुल्या कालान्तरेण उपसरयुधारारूपेण परिवर्तिता; इयं धारा मूलधारामार्गात् लघुतरा। स्वाभाविकमिदं, यत् एतस्य मार्गस्य भौमिकी अपनतिः (gardient) दीर्घतराद् मूलमार्गात् अधिका भवेत्। अतो हि कालान्तरे उत्तरतः दक्षिणाभिमुखं प्रवहमानया सरय्वा सरयुघर्घरयोः जलस्य भूयान् भागः एतेनैव कुल्यामार्गेण बलात् प्रवाहितः।

(iii) कस्मिंश्चिद् अपि काले गोप्रतारे सरय्वां जलाभावः न दृश्यते। मन्ये, अयोध्यामाहात्म्यस्य यामलशाखायामपि तदेव स्वर्गद्वारनाम्ना अभिहितम् (अ.ती.प्र.)। अत एव उपसरय्वाः (तिलोत्तमाकुल्यायाः) उद्गमस्थानं गोप्रताराद् नातिदूरम्।

यद् वा भवतु। 'मङ्गलसी' 'परगना' फैजाबादमध्ये यत्र कुत्रापि नाम मन्येत, न तद् अस्माकं मूलस्थापनायाः दोषाय। संक्षेपेण इदमेव हि भौगोलिकं परिवर्तनमयोध्यायाः। एतस्य फलानि अस्माभिः विविधैः प्रकारैः विवेचितानि। तेषामयं संक्षेपः,–

(1) दशरथकालिकी अयोध्या (मूलस्थितिः); सरयुधारा च तदा प्रायशः तथैव स्थिता यथा इदानीम्। गोप्रतारं स्वर्गद्वारं चैतद् द्वयमपि पृथक् तीर्थम्। सरयुघर्घरासंगमस्तु कदाचिद् घृताचीतीर्थस्थः। अयोध्यायाः परिक्षेत्रे केचित् पर्वता अपि वित्ताः।

9.0.6. उपकुल्यास्थिति :–राज्याभिषेकान्तरं श्रीरामेण एका अशोकवनिका विरचिता, तत्र कृत्रिमाः पर्वताः, मणिरचिताः उच्चभूमयः च विनिर्मिताः। कदाचित्तु प्राकृताः अपि पर्वताः तत्र स्थिताः। एका कुल्या सरयुप्रवाहाद् अपकृष्टा, अशोकवनिकां मध्यतः प्रवहमाना सा कदाचित्तु रामस्य अश्वशालायामपि संक्रमन्ती अयोध्यायाः पूर्वभागे पुनः सरयुं संगता। एतत् सर्वं महदाडम्बरप्रायं प्रियाप्रसादाय एव तत्र भवतः। एतस्याः पूर्वोक्तयाः मूलस्थितेः अपि वर्णनं वाल्मीकीये। एतस्याः स्थितिः एव स्कन्दपुराणस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य बीजम्। कामं खलु तत् कालान्तरेण परवर्तिवर्णनैः अपि उपबृंहितम्।

9.0.7. उपसरयुस्थिति :–गोप्रतारः एव स्वर्गद्वारनाम्ना अपि ख्यातिं गतः। कालान्तरेण सरयुसंगमः गोप्रतारं निकषा संक्रान्तः। उपकुल्या उपसरयुधारारूपेण रूपान्तरिता। इयं स्थितिः बुद्धमौर्यकाले स्थिता। गोप्रतारस्वर्गद्वारमध्यस्थानि प्राचीनानि तीर्थानि विनष्टानि। उपसरयुधारा अयोध्यायाः दक्षिणपूर्वदिग्भागं प्रवहमाना पुनरपि मूलधारां प्रति अभिसरन्ती आसीत्। अस्मिन् काले नवीनानि बिल्वादितीर्थानि विनिर्मितानि। भौगोलिकपरिवर्तनेन कस्यचिद् नवीनस्य अयोध्यामाहात्म्यस्य आकांक्षा कृता। सा तु यामलशाखीयेन अयोध्यामाहात्म्येन परिपूरिता।

9.0.8. द्वीपस्थिति :–क्रमेण पुनः सरयुसंगमः मूलस्थानं प्रति अभिक्रममाणः आसीत्। अतो हि सरयुजलस्य अर्धांशः पुनः मूलमार्गमनुसृतः। स तु अद्यापि प्रवहमानया उपसरयुधारया अयोध्यायाः पूर्वभागे सम्मिलितः, अयोध्यापि द्वीपरूपतां गता। तदा तत्र रामघट्टः, त्रिपुरारि–इत्यादिकानां तीर्थानां निर्माणानि जातानि। यानि अयोध्यामाहात्म्यस्य प्रकीर्णशाखायां पठितानि।

9.0.9. द्वीपकालोत्तरा स्थिति :–(पूर्वकालः) कालान्तरे उपरि शुष्यमाणा उपसरयुः अल्पजला जाता। इयं स्थितिः वाल्मीकीयस्य D4, 5, 7 हस्तलेखे दृश्यते। मन्ये इयं

मौर्य–शुङ्गकालिकी। (उत्तरकालः), प्रायेण इदानीम् उपसरयुः विलुप्तिं गता। इयमेव स्थितिः कालिदासस्य रघुवंशे प्रतिभास्यते। इयं शुङ्गगुप्तकालिकी।

9.0.10. तिलोदकीस्थिति :–गुप्तकालाद् अद्यावधि इयं स्थितिः प्रवर्त्यते। उपसरयुः तिलोदकी संभूता। सरयुः मूलमार्गे प्रवाहमाना दृश्यते। अतश्च बिल्वादितीर्थानि, तथा वै त्रिपुरारिरामघट्टादीनि कालान्तरेषु स्थापितानि तीर्थानि जलहीनतां गतानि। प्राप्यते तु सरयुजलं तेषु अद्यापि, किन्तु वन्यायाम्।

एतेषां भूतार्थानां सम्बन्धे स्मर्तव्यम् खलु अयोध्यायाः उत्खननादिषु, ऐतिहासिकगवेषणासु। सरयुजलप्रवाहपरिवर्तनैः अपि उपसरयुधारया च बहूनि प्राचीनानि स्थलानि विनष्टानि। इयं तु सहजेन शक्यमनुमातुमिति अलं बहुविस्तरेण।।

शुद्धा शान्तस्वभावा, जनकनृपसुता रामचन्द्रस्य भार्या,
आहोस्वित्काचिदार्या प्रभवति भुवने लोकलीलां विधातुम्।
आबाल्यादेव नित्यं जनयति चरिते सत्यमेवाद्भुतत्वं
तत्त्वां मानुष्यलोके करुणरसमयीं जानकी तां नमामः।।

शुभं भूयात्

□□□

सहायकग्रन्थानां सूची

1. पाणिनीय अष्टाध्यायी (पाणिनिः)
2. सिद्धान्तकौमुदी, बालमनोरमाटीका सहिता
3. कातन्त्रव्याकरणम् – डॉ. रामसागर मिश्र सम्पादितम्
4. सारस्वचन्द्रिका
5. मुग्धबोधव्याकरण
6. छन्दःशास्त्रम्
7. शुक्लयजुर्वेदः सायणभाष्य सहितः
8. अथर्ववेद : सायणभाष्य सहितः
9. माधवकृत – वेदार्थदीपिका
10. नरसिंहपुराणम्
11. तैत्तरीयोपनिषद्
12. अयोध्यामाहात्म्यम् – हंसबाकरसंपादितम्
13. बाल्मीकीयरामायणम् – बड़ौदा संस्करणम्
14. अध्यात्मरामायणम्
15. आनन्दरामायणम्
16. कम्बरामायणम्
17. कृत्तिवासरामायणम्
18. सत्योपाख्यानम् – शिलाक्षरैर्मुद्रितम्
19. भुशुण्डीरामायणम्
20. रामचरितमानस – आचार्य विश्वनाथमिश्रसम्पादितः

21. पद्मपुराणम्
22. वामनपुराणम्
23. कृत्यकल्पतरुः – लक्ष्मीधरमिश्रः
24. रघुवंशम्
25. तीर्थकल्पः – जैनसूरिकृतः
26. अयोध्यामाहात्म्यम् (दशाध्यायी)
27. अयोध्यामाहात्म्यम् (त्रिशंदध्यायी)
28. नरसिंहपुराणम् – हस्तलेखः
29. नरसिंहपुराण – हस्तलेखः
30. अयोध्यामाहात्म्य – इण्डिया–ऑफिसपुस्तकालय
31. अवध गजेटियर
32. भारतवर्ष का इतिहास
33. वीरमित्रोदय – श्रीमित्रमिश्रविरचितः, सं. चौखम्बा संस्कृत सीरीज
34. ऋग्वेद (मूलग्रन्थः)
35. स्कन्दपुराणम्
36. पुराणम्, पत्रिका
37. प्रेमरामायणम्
38. महाभारतम्
39. रामचरितमानस
40. मनुस्मृतिः
41. अभिज्ञानशाकुन्तलम्
42. महाभाष्यम्
43. वाक्यपदीयम्
44. काशिका
45. पद्मपुराणम्
46. वामनपुराणम्

47. पौराणिक वाङ्मय में अयोध्या
48. षट् सन्दर्भ – जीवगोस्वामी
49. जानकीहरणम् – कुमारदास
50. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन – डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
51. अमरकोशः

□□□





नाम : डॉ. उमाकान्त चतुर्वे

पिता : पं.श्रीइन्द्रदेव चतुर्वेदी

माता : श्रीमती लाखमुनी देवी

जन्मभूमि : बनौली, भभुआ, बिहा

जन्मतिथि : 03 नवम्बर 1960ई.

माध्यमिकशिक्षा, श्रीवज्राङ्ग संस्कृतोच्च विद्यालय, चेनारी, बिहार से उच्चशिक्षा काशीहिन्दूविश्वविद्यालय सम्पन्न हुयी। परीक्षायें-आचार्य, एम पी-एच.डी.। सभी परीक्षाओं में सर्वप्र एवं अनेक स्वर्णपदक प्राप्त, शास्त्रार्थ भाषणप्रतियोगिताओं में अनेक प्रथ पुरस्कार।

कार्यक्षेत्र : शोधसहायक (अप्रैल 199 जुलाई 1992 तक) पुराणप्रकाशन वि अखिलभारतीय काशिराजन्या रामनगर, वाराणसी। व्याख्या व्याकरण, (अगस्त 1992 से जून 20 तक) सं.सं.वि.वि.से सम्बद्ध 'क' व श्रीमुमुक्षुभवन-वेदवेदाङ्गमहा-विद्या अस्सी, वराणसी। सहआचार्य, सा (जून 2005 से...) राष्ट्रिय तसंस्थान, जयपुर परिसर, जयपुर।



हंसा प्रकाशन

57, नाटाणी भवन
मिश्र राजाजी का रास्ता, चांदपोल बाजार
जयपुर – 302 001 (राज.)

ISBN : 978-81-88257-67-6

Rs. : 200.00

Cover Designe : Computer Craft, Jpr.